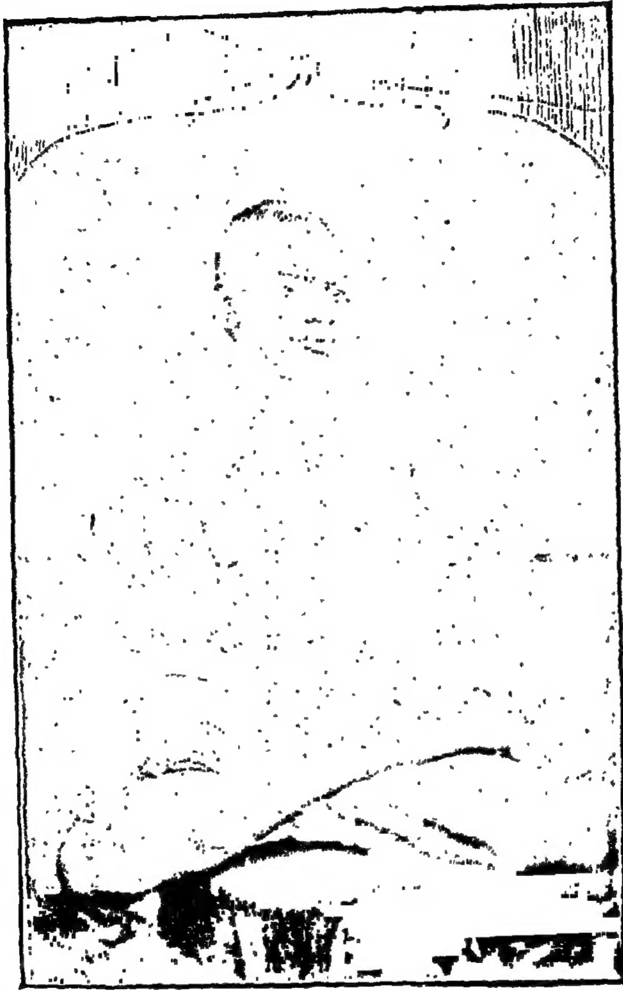


स्वर्गीय श्रीमद्राजचन्द्रजी ।

जन्म—ववाणिआ.
कार्तिकशुक्ला पूर्णिमा संवत् १९२४ विक्रम.

देहोत्सर्ग—राजकोट.
वैशाखकृष्णा पंचमी संवत् १९५७ विक्रम.



श्रीपरमात्मने नमः

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

१

श्रीमदमृतचन्द्राचार्यविरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सरल हिन्दीभाषाटीकासहित ।



जिसे

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल बम्बईके स्वत्त्वाधिकारियोंने

निर्णयसागर प्रेसमें छपाकर

प्रकाशित किया.

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४३१.

ओंनमः सिद्धेभ्यः

प्रस्तावना.

सभ्य संसारमें जितने धर्म प्रचलित हैं. प्रायः उन सबके अनुयायी हिंसाको पाप और अहिंसाको पुन्य बतलाते हैं और इसलिये वे हिंसाके छोडने और अहिंसाके पालन करनेका उपदेश करते हैं। परन्तु इस प्रकारके उपदेशमात्रसे ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सक्ता, कि सब धर्मोंमें हिंसाका स्वरूप अथवा लक्षण एकसा ही माना है। जिन विद्वानोंने भूमंडलके नानाधर्मोंके नानाआचरणों, प्राचीन इतिहासों और ग्रन्थोंका शोध तथा परिशीलन किया है. वे कहते हैं, कि हिंसाके लक्षण धर्मोंकी संख्यासे न्यून नहीं हैं, अर्थात् जितने धर्म हैं उतने ही हिंसाके लक्षण हैं. वे इस बातका भी शोध कर चुके हैं, कि ढाईहजार वर्ष पहिले हिंसाका कितना आदर था, और आज कितना है? तथा वैदिक समयमें जब हजारों पशुओंका हवन होता था अहिंसा कितनी मान्य थी और अब जब यज्ञोंमें पशुवधका नाम नहीं लिया जाता कितनी उच्चाधिकारिणी हुई है? अहिंसाका इसप्रकार विस्तृत इतिहास लिखनेको हमारेपास इस छोटीसी भूमिकामें स्थान नहीं है, परन्तु अहिंसाकी विजयपताका आज चहुँओर फहरा रही है. समस्त धर्मोंपर अहिंसाका असाधारण स्वत्व स्थापित है. किसी भी धर्ममें महाराणी अहिंसाकी अवज्ञा करनेकी शक्ति नहीं है, इसलिये इस महामान्य देवीकी थोडीसी कथा फिर भी कहना पडेगी, अहिंसाके जीवन चरित्रके विषयमें पूनाके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ लोकमान्य पंडित बाल गंगाधर तिलकका कथन है, कि "जैन और वैदिक ये दोनों ही धर्म यद्यपि विशेष प्राचीन हैं, परन्तु अहिंसा धर्मका मुख्य प्रणेता जैनधर्म ही है. जैनधर्मने अपने प्राबल्यसे वैदिकधर्मपर अहिंसाधर्मकी एक अक्षुण्ण मुद्रा (मुहर) अङ्कित की है. वैदिकधर्ममें अहिंसाने जो स्थान पाया है जैनियोंके संसर्गसे ही पाया है. अहिंसाधर्मका सम्पूर्ण श्रेय जैनियोंके हिस्सेमें है. ढाई हजार वर्ष पहिले वेद विधायक यज्ञोंमें हजारों पशुओंका वध होता था, परन्तु २४०० वर्ष पहिले जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीने जब जैनधर्मका पुनरुद्धार किया, तब उनके उपदेशसे लोगोंका चित्त इस घोर निर्दय कर्मसे विरक्त होने लगा. और शनैः २ लोगोंके चित्तपर अहिंसाने अपना अधिकार जमा लिया. उस समयके विचारशील वैदिक विद्वानोंने धर्मकी रक्षाके—लिये पशुहिंसा सर्वथा बन्द कर दी और अपने धर्ममें अहिंसाको सादर स्थान दिया इत्यादि" मान्यवर तिलकने अहिंसाका मुख्य प्रणेता जिस परमधर्मको बतलाया है. उसीके एक प्रचारकने हिंसाका त्याग करनेके लिये कहा है कि:—

अवबुध्यहिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥

विचारशील पाठक देखेंगे, कि इस छोटेसे श्लोकमें हिंसात्यागकी कैसी उत्तम विधि बतलाई है? "हिंस्य, हिंसक, हिंसा, और हिंसाके फल, इन चार बातोंको जाने विना हिंसाका त्याग नहीं किया जा सक्ता" ऐसा वाक्य वही पुरुष कहेगा, जो अहिंसाधर्मका पूर्ण मर्मज्ञ है. जो पुरुष इन चार बातोंको भलीभांति जानता है, वही हिंसा अहिंसाको जानता है दूसरा नहीं; ऐसा कहना भी न्यायमार्गसे कुछ अत्युक्तिकर नहीं होगा. पंडित प्रवर तिलकके कथनके अनुसार यद्यपि वेदादि धर्मोंने अहिंसाका समावेश किया गया है. और आज प्रायः समस्त पृथ्वीके धर्म ऊपर कहे अनुसार अहिंसाके उपदेशक हैं, परन्तु हम अब भी दृढतापूर्वक कह सक्ते हैं, कि वे हिंसाका लक्षण करने अर्थात् हिंसा यथार्थमें किसे कहते

---

१. कर्मोंका आस्रव रोकनेमें जो पुरुष तत्पर हैं. उन्हें तत्वदृष्टिसे हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलोंको जानकर अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाको निरन्तर छोडना चाहिये।

हैं, इसके जाननेमें अव भी समर्थ नहीं हुए हैं. यही कारण है, कि आज इन प्रत्येक धर्मोंमें किसी न किसी रूपमें हिंसा होती ही है. और प्रत्येक धर्मके उपासक अपनी जिव्हाकी तृप्तिकेलिये अथवा इसी प्रकार अन्य कामक्रोधादिकषायोंको पोषण करनेकेलिये गुप्त तथा प्रकट रूपमें हिंसा करते हैं. उदाहरणस्वरूप क्रिस्ती लोग हिंसाका अर्थ 'मनुष्यका खून, इतना ही करते हैं, और अपना पामर शरीर पुष्ट करनेकेलिये वे गाय सरीखे सहस्रावधि परमोपकारी पशुओंका घात करना भी बुरा नहीं समझते' इसी प्रकार बौद्ध, मुसलमानादि अनेक धर्म है, जो हिंसाको बुरा समझके भी हिंसासे अलिप्त नहीं है।

वर्तमान समयमें विद्याकी यत्किंचित् उन्नति होनेसे लोगोंके चित्त दिनपर दिन पक्षपात रहित और यथार्थ मर्मके समझनेमें उत्साही हो रहे हैं, धर्मका विढंगा और वनावटी पक्षपात उनके हृदयोंमेंसे शनैः २ अन्तर्धान हो रहा है, ऐसे समयमें उन्हें हिंसाका मर्म समझनेकी भूल यदि युक्तिप्रमाणद्वारा वतला दी जावे, तो संभव है, कि वे यथार्थ हिंसाको जानकर अहिंसातत्त्वके मर्मज्ञ हो जावें. इसी विश्वास और सुन्दर आशासे आज यह ग्रन्थ पाठकोंकी भेट किया जाता है। ग्रन्थकर्त्ताने हिंसा अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रहादि पांचो पापोंको जिस खूबीके साथ केवल हिंसारूप ही सिद्ध किया है, उससे मन मुग्ध हो जाता है. और ग्रन्थकर्ताकी निर्मल बुद्धि की सहस्रमुखसे प्रशंसा करनी पडती है। जो महाशय जैन आम्नायसे अपरचित हैं, यद्यपि प्रारंभमें उन्हें यह ग्रन्थ कठिन जान पडेगा, परन्तु एकवार ध्यानपूर्वक आद्योपान्त पढलेनेसे अतिशय सरल हो जावेगा, इसलिये जिन सज्जनोंके हाथमें यह ग्रन्थ पड़े, उनसे प्रार्थना है, कि वे इसे एकवार आद्यंत अवश्य ही पढ जावें।

इस ग्रन्थका नाम **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** तथा **जिनप्रवचनरहस्यकोश** है. और 'यथा नाम तथा गुणः' इस उक्तिके अनुसार इसमें पुरुष अर्थात् आत्माके प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय तथा जैनसिद्धान्तके रहस्योंका भंडार है। मिथ्याश्रद्धानको नष्टकर निजस्वरूपको यथावत् जानके अपने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होना पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग ही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय है।

आचार्योंकी पट्टावलियों तथा पाश्चात्यविद्वानोंकी रिपोर्टें देखनेसे जाना जाता है, कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायके कर्त्ता श्रीमदमृतचन्दसूरि * विक्रम संवत् ९६२ में जीवित थे। इस ग्रन्थके संस्कृत टीकाकारने आपको 'कलिकाल गणधर, इस परम विद्वत्तासूचक पदसे विभूषित किया है जिससे सहज ही अनुमान हो सक्ता है, कि उस समयके विद्वानोंमें आप कितनी श्रेष्ठता धारण करते थे। जिस नन्दिसंघके आचार्योंमें परमभट्टारक श्री कुन्दकुन्दस्वामी हुए हैं, आपने उसी संघको वहुत समयतक सुशोभित किया है, ऐसा पट्टावलियोंसे जान पडता है. कुन्दकुन्दस्वामीके जितने ग्रन्थ प्राप्य हैं, प्रायः उन सवपर आपकी परमोत्तम टीकायें मिलती हैं. जिससे आपके संघवात्सल्य तथा श्रद्धाभावका भी भलीभांति परिचय मिलता है। आपकी सव टीकायें अत्यन्त वोधगम्य और भाव व्यंजक गिनी जाती हैं। आपके वनाये हुए निम्नलिखितग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१ आत्मख्यातिसमयसार टीका.

२ प्रवचनसार टीका.

३ पंचास्तिकायसमयसार टीका.

४ तत्त्वार्थसार (तत्त्वार्थसूत्रका सुखवोध अनुकरण)

‡५ तत्त्वदीपिका.

६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय.

---

* XLIXA वोल्यूम नं० १८ रायल एशियाटिक सुसाइटी वाम्बे ब्रेंच पिटर्सनकी रिपोर्ट।

‡ प्रवचनसारकी संस्कृतटीकाका नाम तत्त्वदीपिका है, तत्त्वदीपिका ग्रन्थ कोई पृथक् नहीं पाया जाता. जाना जाता है, कि रिपोर्टरने भ्रमसे प्रवचनसार टीका, और तत्त्वदीपिका को दो जगह लिख दिया है।

खेद है, कि बहुत अन्वेषण करनेपर भी हम आपका इससे अधिक परिचय न पा सके, यदि कोई ग्रेज्युएट महाशय इस विषयमें प्रयत्न करेंगे, तो आशा है, कि वे सफलता प्राप्त करेंगे. क्योंकि आंग्लभाषामें इसके बहुत साधन मिलसक्ते हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीकायें अनेक होंगी. ऐसा ग्रन्थकी उत्तमतासे अनुमान होता है, परन्तु उनमें केवल ३ प्राप्य हैं. जिनमें प्रथम संस्कृत टीका है जिसके कर्त्ता महाशयका नाम अप्रकट है. यह टीका एशियाटिक सुसाइटीकी लायब्रेरीमें मौजूद है. दूसरी टीका पं० टोडरमलजी तथा दौलतरामजीकृत जयपुरकी ढूंढारी भाषामें और तीसरी पंडित भूधरमिश्र रचित आगराकी व्रजभाषामें हैं।

दूसरी टीका प्रसिद्ध भाषाटीकाकार पं० टोडरमलजीने करना प्रारंभ की थी. परन्तु शोक है, कि उनके द्वारा वह पूर्ण न हो सकी. पूर्णताका यश पं० दौलतरामजीके भाग्यमें था. प्रारंभ की हुई टीका यद्यपि पूर्ण-कर दी गई है. परन्तु प्रारंभमें विषयकी स्पष्टताका जो क्रम था, उसका निर्वाह अन्ततक नहीं हो सका है. पं० टोड़रमलजीका नाम आचार्योंकी श्रेणीमें लिखे जाने योग्य है. उनके असाधारण पांडित्यको प्रदर्शित करनेवाली गोमट्टसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार, लब्धिसार, आत्मानुशासन आदि महान ग्रन्थोंकी टीकायें प्रसिद्ध हैं. उनके बनाये हुए मोक्षमार्गप्रकाशका जैनसमाजमें विशेष आदर है, परन्तु दुःखकी बात है कि यह परमोत्तम ग्रन्थ भी पुरुषार्थसिद्ध्युपायके समान अधूरा अर्थात् भूमिकामात्र है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय एक विद्वान्के द्वारा पूर्णकर दिया गया, परन्तु मोक्षमार्गप्रकाशका पूर्ण करनेवाला जैन समाजमें कोई अबतक भी नहीं हुआ। पं० टोड़रमलजी १८वीं शताब्दिके प्रारंभमें विद्यमान थे, उन्होंने संवत् १८१८में क्षपणासारकी भाषाटीका पूर्ण की थी. इनका सविस्तर जीवनचरित्र लिखनेकी हमारी इच्छा थी. परन्तु शीघ्रतावश तथा पूरा २ साहित्य एकत्र न हो सकनेसे पूर्ण नहीं होसकी, परन्तु आशा है, कि पाठकगण इस प्रतिभाशाली पुरुषका चरित्र शीघ्र देखेंगे. इस शास्त्रमालामें उनके बनाये हुए सम्पूर्ण अप्रकाशित ग्रंथ प्रकाशित किये जावेंगे। पं० टोड़रमलजीके स्वर्गवास होनेसे जयपुरके महाराज पृथ्वीसिंहजीके प्रधान दीवान श्रीयुक्त रतनचंद्रजीने तथा सम्पूर्ण जैन समाजने पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी अधूरी टीका पूर्ण करनेके लिये प्रेरणा की, तब पं० दौलतरामजीने यह पुण्यकार्य प्रारंभ करके विक्रम संवत् १८२७ की मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीयाको पूर्ण किया. यह बात ग्रन्थकी अन्त प्रशस्तिसे जानी जाती है।

तीसरी टीकाके कर्त्ता पं० भूधरमिश्र है जो आगराके समीपस्थ शाहगंजमें हुए थे. आप जातिके ब्राह्मण थे. आपके गुरुवर्यका नाम पंडित रंगनाथजी था. पुरुषार्थसिध्युपायका अहिंसाप्रकरण आपकी विशदबुद्धिमें ऐसा समाया, कि आपकी उत्कंठा जैनधर्मके तत्त्वोंको जाननेकी हुई, और पंडित रंगनाथजीके पास जब आपने जैनसिद्धान्तोंकी अभिज्ञता प्राप्त कर ली, तब पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीका करनेकी ओर रुचि दौड़ाई. और निदान विक्रम संवत् १८७१ की भाद्रपद शुक्ला १० को यह टीका पूर्ण की, इसके पश्चात् **चरचा-समाधान**, नामक एक ग्रन्थ आपने और भी प्रस्तुत किया, जिससे आपकी विद्वत्ता स्पष्ट झलकती है. पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी टीकामें आपने यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य. रयणसार. धर्मोपदेशपीयूषवर्षाश्रावकाचार. अष्टादशअक्षरीप्रबोधसार, योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार, वीरनन्दिकृतयत्याचार आदि अनेक ग्रन्थोंके प्रमाण यथावसर दिये हैं. जिससे जाना जाता है, कि आप जैनसिद्धान्तके अच्छे ज्ञाता थे. जैनग्रन्थोंका परिशीलन करनेसे आप जैनी हो गये थे. इसमेंभी कोई संशय नहीं है. क्योंकि, इस ग्रन्थका मंगलाचरण जिस सुन्दर भक्तिरससे पूर्ण है, वह जैनीके अतिरिक्त अन्यजनकृत नहीं हो सक्ता. देखिये:—

नमो आदिकरतापुरुष, आदिनाथ अरहंत।
द्विविधिधर्मदातार धुर, महिमा अतुल अनंत॥

---

१ इस ग्रन्थकी रचना नकारादि नकारान्तपर्यन्त वर्णोंमें ही की गई है!

स्वर्ग-भूमि- पातालपति, जपत निरन्तर नाम ।
जा प्रभुके जस हंसको, जगपिंजर विश्राम ॥

जाको सुमरत सुरतसों, दुरत दुरत यह भाय ।
तेज फुरत ज्यों तुरत ही, तिमर दूर दुरिजाय ॥

मंगलाचरणके उक्त तीन दोहोंसे इस वातका भी पता लगता है, कि आप भापाके एक अच्छे कवि थे। दूसरे दोहेकी उपमा और तृतीयका प्रयास उनके उत्तम कवित्वके साक्षी हैं। कई लोगोंनें भूधर जैन शतकके कर्ताभी इन्हें वतलाया है परंतु यह केवल भ्रम है। मूलग्रन्थ तथा टीकाकारोंका इसप्रकार थोड़ासा परिचय देकर अव हम इसके मुद्रण सम्वधमें दो चार वातें कहकर भूमिका पूर्ण करते हैं।

जवसे मुद्रणकलाका प्रसार हुआ है, तवसे आजतक इस ग्रन्थके दो प्रकाश हुए हैं. एक तो वावू सूरजभानजी वकील सहारणपुरवालोंने अपने 'ज्ञानप्रकाश,' नाम मासिकपत्रमें किया था. और दूसरा रा. रा. कृष्णाजी नारायण जोशी पूनावालोंने. इनमेंसे दूसरा प्रथमका आशयच्युत मराठी अनुवाद है. पहिले प्रकाशको जो हिन्दीमें हुआ था, ज्ञानप्रकाशकके वंद हो जानेसे एक तो अनेक जन देख ही नहीं सके, दूसरे संशोधकके प्रमादसे उसमें मूलपाठ विशेप अशुद्ध छपा था, तीसरे श्लोकका पूर्ण अर्थ न छपाकर मात्र भावार्थ गया था, जिससे ग्रन्थकर्त्ताका यथार्थ अभिप्राय जानना कठिन था, मराठी अनुवादके कर्त्ता एक वैष्णव महाशय हैं. तव पाठक स्वयं जान सक्ते हैं, कि वह कितना उपयोगी होगा? यहांपर मेरा अभिप्राय किसीकी निन्दा स्तुति करनेका नहीं है, केवल कर्त्तव्यके अनुरोधसे ग्रन्थका इतिहास देकर यह प्रगट करनेका है, कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय दो स्थानोंसे प्रकाशित हो चुकनेपर भी यथार्थमें अवलों अप्रकाशित ही रहा है।

मैं ढूंढारी तथा आगरेकी पुरानी भापाका विरोधी नहीं हूं, परन्तु एक तो साम्प्रत साहित्यके ज्ञाता इन भाषाओंसे पढनेमें प्रसन्न नहीं होते, दूसरे समस्त देशके लोग प्रचलित हिन्दीके समान इन्हें सरलतासे समझ नहीं सक्ते, तीसरे जैनियोंके अतिरिक्त अहिंसाधर्मके अन्य उपासकोंके पठनपाठनकेलिये भी यह ग्रन्थ उपयोगी वनाना था, जिनके समझनेके लिये प्रचलित हिन्दी ही उपयोगी समझी जाती है, चौथे अनेक टीकाओंका सार एकत्ररूप छपाना किसी एक टीका छपानेकी अपेक्षा विशेप लाभकारी होता है. ऐसा समझकर अनेक मित्रोंकी सम्मतिसे यह एक नवीन ढंगकी नवीन टीका निर्मित की गई है. यद्यपि इसमें टीकाकारोंके अभिप्रायोंसे विशेष अधिक कुछ नहीं लिखा गया है. तथापि क्रम और रचनाका ढंग वदल जानेसे नवीन ही कहलावेगी।

इस ग्रन्थके प्रस्तुत करनेमें मुख्यतः चार प्रतियोंकी सहायता ली गई है, जिनसे दो तो मूलमात्रकी थीं, तीसरी पं० भूधरमिश्रकृत टीका और चौथी पं० टोडरमलजीकृत थी. तीसरी प्रति इतनी अशुद्ध थी, कि उसके ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृतकिये श्लोकोंको भी शोधकर इस प्रकाशमें स्थान न दिया जा सका, चौथी और प्रथम मूल प्रति प्रायः शुद्ध थी, इन चार प्रतियोंके अतिरिक्त छपे हुऐ हिन्दी प्रकाशसे भी यथावसर सहायता ली गई है। इस प्रकाशके सम्बन्धमें नीचे लिखी हुई वातें जानने योग्य हैं:—

१ पूर्वभागमें विशेपकर पं० टोड़रमलजीकी टीकाका और उत्तर भागमें पं० भूधरमिश्रकृत टीकाका आश्रय लिया है. टिप्पणीका विषय वहुशः ग्रन्थान्तरोंसे लिया है।

२ उक्त दोनों टीकायें भावार्थमिश्रखंडान्वय युक्त थीं. विद्यार्थियोंके लाभार्थ इस प्रकाशमें दंडान्वय तथा भावार्थसे पृथक् अर्थकी सृष्टि की गई है।

३ विद्यार्थियोंकी सरलताके लिये अन्वयके साथ अर्थ इस ढँगसे लिखा गया है, कि यदि कोष्टकमें लिखे हुए केवल संस्कृत पद पढे जावें, तो पदच्छेदसहित अन्वय हो जाता है, और यदि संस्कृत पद छोड़कर केवल भाषार्थ पढा जावे तो 'जो है सो, 'फिर कैसा है, आदि पुनरुक्तियोंसे रहित शुद्ध हिन्दी वन जाती है।

४ अन्वय और अर्थके पश्चात् भावार्थ लिखा गया है, जिसमें वह विषय स्पष्ट किया गया है, जो अन्वय-मिश्रित अर्थमें नहीं हो सका है।

५ भावार्थ तथा टिप्पणीमें कहीं २ उस प्रकरणका उपयोगी विषय ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत करके दिया है।

यह ग्रन्थ जिस महात्माके स्मारकमें प्रकाश हुआ है, उसका जीवन चरित्र तथा विवरण अन्यत्र दिया है. यहां पुनः लिखनेकी आवश्यकता नहीं है. पर जैन समाजमें इस प्रकारके स्मारकका यह पहिला ही उदाहरण है। जिन सज्जनोंने इस स्मारक फंडको खड़ा किया हैं. उनकी दूरदर्शिता प्रशंसनीय है। एक तत्त्वज्ञानीका नामस्मरण करनेके लिये उन्होंने जो इस तत्त्वज्ञानप्रसारककार्यकी योजना करके अपनी कृतज्ञता प्रकाश करनेका प्रयत्न किया है, वह अतिशय सराहणीय हैं. अतएव प्रथम ही मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं। और इस ग्रन्थके लिखनेमें सज्जनोत्तम पं० पन्नालालजी बाकलीवालसे मुझे विशेष सहायता तथा उत्साह मिला है, अतएव द्वितीय धन्यवाद उन्हें देकर यह ग्रन्थप्रस्तावना पूर्ण करता हूं।

अन्तमें सम्पूर्ण भाइयोंसे इस ग्रन्थको स्वतः पढने, अपनी संतानको पढाने, और समाजमें यथाशक्ति प्रचार करनेकी प्रार्थना करके अल्पबुद्धि तथा प्रमाददोपसे रही हुई शब्द अर्थ की अशुद्धियोंकी भी क्षमा चाहता हूं. क्योंकि:— न हि सर्वः सर्वं जानाति।

अलमतिविस्तरेण विद्वद्वरेषु—

जौहरीबाजार—बम्बई.
२५–१२–०४.

सज्जनोंका सेवक.
नाथूराम प्रेमी.
देवरी (सागर) निवासी.



शोधनपत्र।

पृष्ठ–पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
७–२	मिथ्यादृष्टिके लिये	मिथ्यादृष्टिके उपदेशके लिये.
८–१६	[स]	[सः]
१०–२३	ध्रौव्यत्व	ध्रौव्य
११–१६	[प्राप्नोति]	[आप्नोति]
१३–२	परिणामोंसे	परिणामोंसे [स्वयं अपि] आप ही.
१३–२२	[सः]	[सः प्रतिभासः]
१६–३	प्रोत्साहमानोऽपि दूरमपि	प्रोत्साहमानोऽतिदूरमपि
२१–२५	दुःखैरन्तरितोदये	दुःखैरन्तरितोदये
२२–३	दृष्टिल अर्थात्	दृष्टिल

पृष्ठ–पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
२३–८	छठवाँ	छट्ठा
३०–३	होताहै	होता है, [अतः] इसलिये
३३–९	हुएही	घात हुए ही
३४–१५	ऽयतननिर्वृतिः]	ऽयतननिर्वृत्तिः]
३४–२६	अर्थात् निश्चयश्रद्धानको	[निश्चयतः] निश्चयश्रद्धानसे
३८–३	दुराशदं	दुरासदं
३८–६,७	धारण करनेवाले	धारण किया हुआ
३८–१२	हिंसां	हिंसा
३९–६	[रसजानां]	[रसजानां जीवानां]
३९–१६	[सरकसन्निहिता]	[सरकसन्निहिताः]
४०–२०	मधुकरहिंसात्मको	मधुकर हिंसात्मकं
४१–६	[तद्वर्णा]	[तद्वर्णाः]
४१–२९	सकलमपि	शकलमपि
४५–९	(वहुसत्वघातजनिताम्)	[वहुसत्वघातजनितात्]
४६–१६	होगा।	होताहै।
४८–१६	[स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः]	[स्वक्षेत्रकालभावैः]
४९–२१	पैशून्यहासगर्भ	पैशुन्यहासगर्भं
४९–२४	[प्रलपितं]	[प्रलपितं च]
५२–६	सुघट एव	सुघटमेव
५२–८	[हिंसायाः] हिंसाके [च] और	[च] और [हिंसायाः] हिंसाका
५३–८	ग्रहण करना	[नित्यं] निरन्तर
५४–३	तप्तयाति	तप्तायसि
५७–५	[चतुर्दशाः]	[चतुर्दश]
५७–८	हिंसा	हिंसां
५९–२४	[तत्त्वार्थ–	[तत्त्वार्था–
६१–१९	हिंसा	हिंसां
६३–२	करता है।	करता है, [इति सिद्धं] ऐसा सिद्धान्त हुआ।
६५–७	श्रयत्नाहिंसा	श्रयत्नाहिंसां
६७–२४	[अपरं]	[अपरं अपि]
७२–७	भवोत्किलामीषां	भवेत्किलामीषां
७२–२३	परिग्रह)	परिग्रहत्याग)
८८–५	छेदनताड़नवन्धाः	छेदनताड़नवन्धा
१०२–२७	[अमङ्गलं]	[अङ्गमलं]
११०–२५	सम्यक्चारित्राभ्यां	सम्यक्त्वचरित्राभ्यां

१ दृष्टिदोषसे इनके अतिरिक्त अन्य भी अशुद्धियां रह गई हों, तो पाठकगण सुधार करके पढ़ें.

श्रीसर्वज्ञायनमः

अर्पणपत्रिका ।

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ।

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृत—

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

आ पवित्र ग्रंथनुं भाषांतर श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवने
पोतानी माता उत्तमबाईना स्मरणार्थे
रु. २०० अंके वसो आपी कराव्युं छे.—
ते मूल साथे श्रीरायचंद्र जैनशास्त्रमालाने अर्पण करेल छे ।



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितः

पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

(जिनप्रवचनरहस्यकोशः)

सरलभाषानुवादसहितश्च.

मंगलाचरणं.

दोहा।

परम पुरुष निज अर्थको, साध भये गुणवृन्द।
आनन्दामृतचन्द्रको, वन्दत हूं सुखकन्द॥ १॥
वानी विन वैन न वने, वैन विना विन नैन।
नै न विना वानिन वनै, नमों वानि विन वैन॥ २॥
गुर उर भावै आपपर, तारक वारक पाप।
सुरगुर गावै आपपर, हारक वाच कलाप॥ ३॥
मैं नमो नगन जैन जिन, ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैनमानविन दान घन, एनहीन तन छीन॥ ४॥

---

१ पं० टोड़रमलजीभाषाकाररचित.

२ वाणी विना वचनों (वाक्यों) के नहीं वनती, वचन विना (नैन) नयोंके नहीं वनते. और (नै) नय वानिन विना न जिनवाणीके विना नहीं वनते. परन्तु मैं (भाषाकार) इन सबसे पृथक् विना वचनोंकी वाणीको अर्थात् अनक्षरी दिव्यध्वनिको नमस्कार करता हूं.–(छेकानुप्रासयुक्त द्व्यक्षरी दोहा.)

३ गोमूत्रिकाकारवद्ध, कपाटवद्ध, द्विपदी, त्रिपदी आदि चित्रकाव्य.

४ नवदलकमलाकार, चामराकारादि चित्रकाव्य.

५ काम और मानरहित.

६ पापरहित.

कवित्त (मनहरण ३१ वर्ण)

कोऊ नयनिश्चयसे आतमाको शुद्ध मान, भये हैं स्वछन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोऊ व्यवहार दान शील तप भावको ही, आतमको हित जान छाँड़त न मुद्धता[1]॥
कोऊ व्यवहारनय निश्चयके मारगको, भिन्न भिन्न पहिचान करै निज उद्धता[2]।
जब जाने निश्चयके भेद व्यवहार सब, कारण है उपचार मानें तब बुद्धता ॥ ५ ॥

दोहा।

श्रीगुरु परमदयाल है, दियो सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने जान के, ठाने मूढ कलेश ॥ ६ ॥

अथ सूत्रावतारः।

आर्या– **तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।**
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्र] जिसमें [दर्पणतले इव] दर्पणके पृष्ठभागके समान [सकला] सम्पूर्ण [पदार्थमालिका] पदार्थोंका समूह [समस्तैरनन्तपर्यायैः समं] अतीत अनागत वर्तमानकालकी समस्त अनन्तपर्यायोंसहित [प्रतिफलति] प्रतिबिम्बित होता है [तत्] वह [परंज्योतिः] सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना पदार्थ [जयति] जयवन्त होओ.

भावार्थ—शुद्ध चेतना प्रकाशकी कोई ऐसी ही महिमा है कि, उसमें सम्पूर्ण पदार्थ अपने २ आकारसे प्रतिभासित होते हैं; और फिर उन पदार्थोंके जितने भूत भविष्यत् वर्तमान पर्याय हैं वे भी प्रतिबिम्बित होते हैं. जैसे आरसीके पृष्ठभागमें घटपटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं.

उपर्युक्त आरसीके दृष्टान्तमें विशेषता यह है कि, आरसीके कुछ ऐसी अभिलाषा नहीं है कि, मैं इन पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करूं. और आरसी उस लोहेकी सुईके समान जो कि, चुम्बक पाषाणके समीप स्वयमेव जाती है अपने स्वरूपको छोड़ उनके प्रतिबिम्बित करनेको पदार्थोंके समीप नहीं जाती. तथा वे पदार्थ भी अपने स्वरूपको छोड़कर उस आरसीमें प्रवेश नहीं करते. तथा वे पदार्थ आपको प्रतिबिम्बित करनेकेलिये साभिप्रायी (गरजी) पुरुषके सदृश प्रार्थना भी नहीं करते. सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि, जैसा उन पदार्थोंका आकार है वैसे ही आकाररूप होकर आरसीमें प्रतिबिम्बित होते हैं. प्रतिबिम्बित होनेपर आरसी ऐसा नहीं मानती है कि, "यह पदार्थ मुझको भला है. उपकारी है, राग करने योग्य है, अथवा बुरा है, अपकारी है, द्वेष करने योग्य है" किन्तु सर्व पदार्थोंमें साम्यभाव पाया जाता है. जैसे कितने एक घटपटादि पदार्थ आरसीमें

---

१ मूर्खता. २ उद्धतता.

प्रतिविम्बित होते हैं, वैसे ही ज्ञानरूपी आरसी (दर्पण) में समस्त जीवादिक पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं. ऐसा कोई द्रव्य व पर्याय नहीं जो ज्ञानमें न आया हो. अतः शुद्ध चैतन्य पदार्थकी सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है. यदि यहांपर कोई प्रश्न करे कि, मंगलाचरणमें गुणीका स्तवन नहीं करके केवल गुणका स्तवन क्यों किया? तो इसका उत्तर यह है कि, उक्त मंगलमें आचार्य्य महाराजने अपनी परीक्षाप्रधानता व्यक्त की है, क्योंकि भक्त पुरुष **आज्ञाप्रधानी** और **परीक्षाप्रधानी** ऐसे दो भेद-रूप होते हैं, इनमेंसे जो पुरुष परम्परा मार्गसे देवगुरुके उपदेशको ज्यों त्यों प्रमाण कर विनयादि क्रियारूप प्रवृत्ति करता है उसे **आज्ञाप्रधानी** कहते हैं; और जो प्रथम अपने सम्यग्ज्ञानद्वारा स्तुत्य (स्तुति करने योग्य) गुणोंका निश्चयकर पश्चात् बहुगुणी जानकर श्रद्धा करता है, उसे **परीक्षाप्रधानी** कहते हैं. क्योंकि कोई पद, स्थान, अथवा भेष पूज्य नहीं है. गुण ही पूज्य हैं. इस प्रकरणमें 'शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप गुण स्तुत्य है' ग्रन्थकर्त्ता आचार्य्यने यही प्रगट किया है. इस बातको सब ही स्वीकार करेंगे कि, जिस पदार्थ विशिष्टमें उपर्युक्त असाधारण गुण प्राप्त होवें वह सहजही स्तुत्य होता है; क्योंकि गुण गुणी (पदार्थ) के ही आश्रित रह सकता है पृथक् नहीं रह सक्ता; और किंचित् विचार करनेसे उक्त शुद्ध चैतन्यप्रकाश गुण अरहंत और सिद्धोंमें नियमसे निश्चित होता है. इस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता श्रीमदमृतचन्द्रसूरि अपने इष्ट देवका स्तवन करनेके पश्चात् इष्टागमको नमस्कार करते हुए कहते हैं—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥ २ ॥

अन्वयार्थौ—[निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्] जन्मान्ध पुरुषोंके हस्तिविधानको दूर करनेवाले [सकलनयविलसितानां] समस्त नयोंसे प्रकाशित (वस्तुस्वभावोंके) [विरोधमथनं] विरोधोंका मंथन करनेवाले [परमागमस्य] उत्कृष्ट जैनसिद्धान्तके [जीवं] जीवनभूत [अनेकान्तम्] एकपक्षरहित स्याद्वादको (अहम्) मैं अमृतचन्द्रसूरि [नमामि] नमस्कार करता हूं.

भावार्थ—जैसे जन्मके अंधे पुरुष हाथीके पृथक् २ अवयवोंका स्पर्शकरके उनसे हाथीका आकार निश्चय करनेमें वादविवाद करते हुए भी कुछ निश्चय नहीं कर सक्ते; और नेत्रवान् पुरुष उनके सब कल्पनाकृत आकारविषयकवादको क्षणमात्रमें दूर कर देता है; उसी प्रकार अज्ञानी लोग वस्तुके अनेक अङ्ग अपनी बुद्धिसे भिन्न २ रीतियोंसे निश्चय करते भी सम्यग्ज्ञान विना सर्वाङ्ग वस्तुको न जानकर परस्पर विवाद करते रहते हैं. परन्तु सम्यग्ज्ञानी स्याद्वाद विद्याके प्रभावसे यथावत् वस्तुका निर्णय कर भिन्न २ कल्पनाओंको दूर कर देता है यथा—साङ्ख्यमती वस्तुको केवल नित्य और बौद्ध क्षणिक मानता है,

परन्तु स्याद्वादी कहता है कि, जो सर्वथा नित्य है तो अनेक अवस्थाओंका पलटना किस प्रकार होता है? और जो सर्वथा क्षणिक है तो "यह वही वस्तु है जो पहिले देखी थी" इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान क्यों होता है? अतएव पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षा कथञ्चित् नित्य और पर्यायकी अपेक्षा क्षणिक है, अथच स्याद्वादसे सर्वाङ्ग वस्तुका निश्चय होनेसे एकान्त श्रद्धानका निषेध होता है.

नयविविक्षासे वस्तुमें अस्ति, नास्ति, एक, अनेक, भेद, अभेद, नित्य, अनित्य आदि अनेक स्वभाव पाये जाते हैं, और उन स्वभावोंमें परस्पर विरोध ज्ञात होता है. जैसे—'अस्ति' और 'नास्ति' में बिलकुल प्रतिपक्षीपन है, परन्तु उन्हीं स्वभावोंको स्याद्वादसे स्थापित करनेमें समस्त विरोध दूर हो जाते हैं; क्योंकि—एक ही पदार्थ कथञ्चित् स्वचतुष्टयकी[1] अपेक्षा अस्तिरूप कथञ्चित् परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप, कथञ्चित् समुदायकी अपेक्षा एकरूप, कथञ्चित् गुणपर्यायकी अपेक्षा अनेकरूप, कथञ्चित् संज्ञा सङ्ख्या लक्षणकी अपेक्षा गुणपर्यायादि अनेक भेदरूप, कथञ्चित् सत्त्वकी अपेक्षा अभेदरूप, कथञ्चित् द्रव्यकी अपेक्षा नित्य, और कथञ्चित् पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य होता है, इस प्रकार स्याद्वादसे[2] सर्व विरोध दूर हो जाते हैं; इसीलिये उसे "सकलनयविलसितानां विरोधमथनं" यह विशेषण दिया है.

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौ—[लोकत्रयैकनेत्रं] तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोंको प्रकाशित करनेके अद्वितीयनेत्र [परमागमं] उत्कृष्ट जैनआगमको [प्रयत्नेन] अनेक प्रकारके उद्यम व उपायोंकरके [निरूप्य] परम्परा जैनसिद्धान्तोंके निरूपणपूर्वक [अस्माभिः] हमारे द्वारा [विदुषां] विद्वानोंके अर्थ [अयं] यह [पुरुषार्थसिद्ध्युपायः] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ [उपोद्ध्रियते] उद्धार किया जाता है.

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ—[मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः] मुख्य और उपचार कथनके विवरणसे नष्ट किया है शिष्योंका दुर्निवार अज्ञानभाव जिन्होंने तथा [व्यवहारनिश्चयज्ञाः] व्यवहारनय और निश्चयनयके जाननेवाले ऐसे आचार्य [जगति] जगतमें [तीर्थम्] धर्मतीर्थको [प्रवर्त्तयन्ते] प्रवर्त्तावते हैं.

भावार्थ—उपदेशदाता आचार्यमें जिन २ गुणोंकी आवश्यकता है उन सबमें मुख्य गुण व्यवहार और निश्चयनयका ज्ञान है, क्योंकि जीवोंका अनादि अज्ञानभाव मुख्य कथन

१ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा.

२ स्यात्=कथञ्चित्नयअपेक्षासे+वाद=वस्तुका स्वभावकथन.

और उपचारकथनके ज्ञानसे ही दूर होता है, सो मुख्यकथन तो निश्चयनयके आधीन है और उपचारकथन व्यवहारनयके आधीन है.

निश्चयनय—'स्वाश्रितो निश्चयः' अर्थात् जो स्वाश्रित[1] (अपने आश्रयसे) होता है उसे निश्चयनय कहते हैं, और इसीके कथनको मुख्यकथन कहते हैं, इसके जाननेसे शरीरादिक अनादि परद्रव्योंके एकत्वश्रद्धानरूप अज्ञानभावका अभाव होता है, भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है; तथा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव होता है, और तब जीव परमानन्ददशामें मग्न होकर केवलदशाकी प्राप्ति करता है. जो अज्ञानी-पुरुष इसके जाने विना धर्ममें लवलीन होते हैं वे शरीरादिक क्रियाकाण्डको उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जानके संसारके कारणभूत शुभोपयोगको ही मुक्तिका कारण मानके स्वरूपसे भ्रष्ट होकर संसारमें परिभ्रमण करते हैं, इसलिये मुख्यकथनका जानना जो निश्चयनयके आधीन है; परमावश्यक है. निश्चयनयके जाने विना यथार्थ उपदेश भी नहीं हो सक्ता क्योंकि, जो आप ही अनभिज्ञ है वह शिष्यजनोंको किसी प्रकार भी नहीं समझा सक्ता.

व्यवहारनय—"पराश्रितोव्यवहारः" जो परद्रव्यके आश्रित[2] होता है उसे व्यवहार कहते हैं और पराश्रितरूप कथन उपचारकथन कहलाता है. उपचार कथनका ज्ञाता शरीरादिक सम्बन्धरूप संसारदशाको जानकर संसारके कारण आस्रव बंधोंका निर्णय कर मुक्ति होनेके उपायरूप संवर निर्जरा तत्त्वोंमें प्रवृत्त होता है. परन्तु जो अज्ञानीजीव इस (व्यवहारनय) को जाने विना शुद्धोपयोगी होनेका प्रयत्न करते हैं, वे पहिले ही व्यवहारसाधनको छोड़ पापाचरणमें मग्न हो नरकादि दुःखोंमें जा पड़ते हैं, इसलिये व्यवहारनयका (जिसके आधीन उपचार कथन है) जानना परमावश्यक है. सारांश उक्त दोनों नयोंके जाननेवाले उपदेशक ही सच्चे धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक होते हैं.

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—आचार्य इन दोनों नयोंमेंसे, [इह] इससमय [निश्चयं] निश्चयनयको [भूतार्थं] भूतार्थ और [व्यवहारं] व्यवहारनयको [अभूतार्थं] अभूतार्थ [वर्णयन्ति] वर्णन करते हैं. [प्रायः] बहुत करके [भूतार्थबोधविमुखः] भूतार्थ अर्थात् निश्चयनयके ज्ञानसे विरुद्ध जो अभिप्राय हैं, वे [सर्वोऽपि] समस्त ही [संसारः] संसारस्वरूप हैं.

---

१ जिस द्रव्यके अस्तित्वमें (मौजूदगीमें) जो भाव पाये जावें, उसी द्रव्यमें उसीका स्थापन कर परमाणु मात्र भी अन्य कल्पना नहीं करनेको स्वाश्रित कहते हैं.

२ किञ्चित् मात्र कारण पाकर किसी द्रव्यका भाव किसी द्रव्यमें स्थापन करनेको पराश्रित कहते हैं.

भावार्थ—'भूतार्थ' शब्दका अर्थ सत्यार्थ है, और उत्तम पुरुष कल्पनासे कुछ भी न कहकर जो कहते हैं उसे सत्यार्थ कहते हैं, यथा—

यद्यपि जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और दोनों मिले हुए दिखते हैं, तथापि निश्चयनय शुद्ध आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्योंसे भिन्न ही प्रकाश करता है. और यही भिन्नता मुक्तदशामें प्रकट होती है अतएव निश्चयनय ही भूतार्थ है. यद्यपि जीव और पुद्गलका सत्त्व भिन्न है, रूप बदलनेपर स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धका छल पाकर आत्मद्रव्यको शरीरादिक परद्रव्योंसे एकत्वरूप कहता है. मुक्तिदशामें प्रगट भिन्नता होनेपर व्यवहारनय स्वयं ही पृथक् प्रकाश करनेकेलिये तत्पर हो जाता है, इसलिये व्यवहार अभूतार्थ है.

'**प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोपि संसारः**' इस वाक्यका विशेषार्थ—आत्माका परिणाम निश्चयनयके श्रद्धानसे विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्योंसे एकत्वरूप प्रवर्त्तन करता है, इसको ही संसार कहते हैं. संसार कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, इसलिये जो जीव संसारसे मुक्त होना चाहे, उसको शुद्ध (निश्चय) नयके सन्मुख रहना योग्य है यथा—

एक पुरुष कर्दमके संयोगसे जिसका निर्म्मल भाव आच्छादित हो गया है ऐसे जलको समल ही पीता है. और एक दूसरा पुरुष थोड़ासा परिश्रम कर कतकफल (निर्मली) डालके जल और कर्दमको जुदा २ करके शुद्ध निर्म्मल जलका आस्वादन करता है. ठीक इस ही प्रकार अज्ञानी जीव कर्मसंयोगसे जिसका ज्ञानस्वभाव आच्छादित है, ऐसे अशुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं और कईएक अपनी बुद्धिसे शुद्धनिश्चयनयके स्वरूपको जानकर कर्म और आत्माको पृथक् २ करके निर्म्मल आत्माका स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं; इससे शुद्धनय कतकफलके समान है, इसके श्रद्धानसे सर्वसिद्धि होती है.[3]

अबुधस्य बोधनार्थं[4] मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—[**मुनीश्वराः**] ग्रन्थ करनेवाले आचार्य [**अबुधस्य**] अज्ञानी जीवोंके [**बोधनार्थं**] ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये [**अभूतार्थं**] व्यवहारनयको [**देशयन्ति**]

---

१ **भूत**—पदार्थमें पाये जानेवाले भाव उनका **अर्थ**—ज्योंका त्यों प्रकाश करना इसे ही भूतार्थ कहते हैं, इस शब्दका पूर्णभाव प्रदर्शक **सत्यार्थ** शब्द है. कल्पनासे कुछ न कहकर ज्योंका त्यों कहना यही **सत्यार्थ** है.

२ **अभूत**—जो पदार्थमें न पाया जावे ऐसा **अर्थ**—भाव. उसे अनेक कल्पना कर प्रकाशित करै उसे **अभूतार्थ** अर्थात् **असत्यार्थ** कहते हैं जैसे मृषावादी पुरुष कल्पनाके बलसे अनेक कल्पना करके तादृश कर दिखाता है.

३ इस प्रकरणमें यह प्रश्न उत्पन्न हो सक्ता है कि, यदि 'व्यवहार' असत्यार्थ है, और कार्यकारी नहीं है; तो व्यवहारनयका कथन आचार्योंने क्यों किया ? परन्तु इसका उत्तर आगेके श्लोकमें दिया गया है.

४ देशनार्थमित्यपि पाठः.

उपदेश करते हैं और [यः] जो जीव [केवलं] केवल [व्यवहारं एव] व्यवहार नयको ही साध्य [अवैति] जानता है [तस्य] उस मिथ्यादृष्टिकेलिये [देशना] उपदेश [नास्ति] नहीं है.

भावार्थ—अनादिकालके अज्ञानी जीव व्यवहारनयके उपदेश दिये विना समझ नहीं सक्के, इस कारण आचार्य उनको व्यवहारनयके मार्गसे ही समझाते हैं. जैसेः—किसी मुसलमानको एक ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया परन्तु वह कुछ भी न समझ सका और उस ब्राह्मणके मुँहकीतरफ देखता रह गया. उसी समय वहां एक द्विभाषिया आ गया और उसने समझा दिया कि, 'आपका भला हो' ऐसा ब्राह्मण महाशय कहते हैं, यह सुन मुसलमानने आनन्दित हो उसे अंगीकार किया. ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंको 'आत्मा' ऐसा नाम लेकर उपदेश दिया गया परन्तु जब अज्ञानी जीव उसको कुछ भी न समझे और आचार्य महाशयके मुँहकी ओर देखने लगे, तब व्यवहार और निश्चयनयके जाननेवाले उन महात्मा आचार्योंने व्यवहारनयद्वारा भेद उत्पन्न कर समझा दिया कि, यह जो देखनेवाला, जाननेवाला, आचरण करनेवाला, पदार्थ है वह ही आत्मा है'[१] और—

घृतसंयुक्त मिट्टीके घड़ेको व्यवहारमें घृतका घड़ा कहते हैं, और कोई पुरुष जन्मसे ही उसें घृतका घड़ा जानता है यहांतक कि, वह उसे विना 'घृतका घड़ा' कहे समझ ही नहीं सकृता. मिट्टीका घड़ा कहनेसे भी नहीं समझ सक्ता, तथा कोई दूसरा पुरुष उसे कोरे घड़ेके नामसे ही समझता है. परन्तु यथार्थमें विचारा जावे तो वह घड़ा मिट्टीका ही है. केवल उसे समझानेके लिये ही 'घृतका घड़ा' नाम कहा जाता है ठीक इस ही प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्यायसंयुक्त है, उसे व्यवहारमें देव, मनुष्य इत्यादि नाम दिये जाते हैं, क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे देव, मनुष्यादि स्वरूपही जानते हैं यहांतक कि, वे आत्माको देव मनुष्यादि कहे विना समझ ही नहीं सक्ते. यदि कोई उन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा कहकर समझावे; तो वे अन्य कोई परब्रह्म परमेश्वर समझ लेवें और निश्चयपूर्वक विचारा जावे तो आत्मा चैतन्यस्वरूप ही है, परन्तु अज्ञानियोंके समझानेकेलिये आचार्य गति, जाति, भेदसे जीवका निरूपण करते हैं, सो यह ही व्यवहारनय[२] है.

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—[यथा] जैसे [अनवगीतसिंहस्य] सिंहके सर्वथा नहीं जाननेवाले पुरुषको [माणवकः] विल्ली [एव] ही [सिंहः] सिंहरूप होती है [हि] निश्चय करके

१ यह सद्भूत व्यवहारनयका उपदेश है.

२ यह असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण है.

[तथा] उसी प्रकार [अनिश्चयज्ञस्य] निश्चयनयके स्वरूपसे अपरिचित पुरुषके लिये [व्यवहारः] व्यवहार [एव] ही [निश्चयतां] निश्चयनयके रूपको [याति] प्राप्त होता है.

भावार्थ—जैसे बालक जो सिंह और बिल्ली दोनोंसे अजान है, बिल्लीको ही सिंह मान लेता है. इसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चयनयको विना जाने व्यवहारको ही निश्चय मान बैठता है, आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप, मोक्षमार्गको नहीं पहिचानकर व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन कर आपको मोक्षमार्गी मानता है अर्थात् अरहंतदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्मका साधनकर सम्यक्ती मानता और किञ्चित् जिनवाणीको जानकर सम्यग्ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि क्रियाओंके साधनमात्रसे चारित्रवान् मानता है, इस भांति अज्ञानी जीव शुभोपयोगमें सन्तुष्ट होकर शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्गमें प्रमादी हो जाते हैं और केवल व्यवहारनयके ही अवलम्बी हो जाते हैं. ऐसे जीवोंको उपदेश देना निष्फल है.

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [व्यवहारनिश्चयौ] व्यवहारनय और निश्चयनयको [तत्त्वेन] वस्तुस्वरूपके द्वारा [प्रबुध्य] यथार्थरूप जानकर [मध्यस्थः] मध्यस्थ [भवति] होता है अर्थात् निश्चयनय व व्यवहारनयसे पक्षपातरहित होता है [स] वह [एव] ही [शिष्यः] शिष्य [देशनायाः] उपदेशके [अविकलं] सम्पूर्ण [फलं] फलको [प्राप्नोति] प्राप्त होता है.

भावार्थ—श्रोतामें अनेक गुणोंकी आवश्यकता है परंतु उन सबमें व्यवहार निश्चयको जानकरके हठग्राही न होना मुख्य गुण है—

उक्तं च गाथा.

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहार णिच्छयं मुंच ।
एकेण विणा छिज्जइ, तित्थं अण्णेण तच्चं च ॥

अर्थात् जो तू जिनमतमें प्रवर्त्तन करता है तो व्यवहार निश्चयको मत छोड ! जो निश्चय पक्षपाती होकर व्यवहारको छोड देगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थका अभाव हो जावेगा. और जो व्यवहारका पक्षपाती होकर निश्चयको छोड़ेगा तो शुद्धतत्त्व स्वरूपका अनुभव होना दुस्तर है, इसलिये पहिले व्यवहार निश्चयको अच्छीतरह जानकर पश्चात् यथायोग्य अंगीकार करना, पक्षपाती न होना, यह उत्तम श्रोताका लक्षण है. यहांपर यदि कोई प्रश्न करै कि, जो गुण निश्चय व्यवहारका जानना वक्ताका कहा था, वही श्रोताका क्यों कहा? तो इसका उत्तर यही है कि, वक्तामें गुण अधिकतासे रहते हैं और श्रोतामें वे ही गुण स्तोकरूपसे रहते हैं.

इति उत्थानिका.

ग्रन्थप्रारम्भः

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुणपर्य्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थौ—[पुरुषः] पुरुष अर्थात् आत्मा [चिदात्मा] चेतनास्वरूप [अस्ति] है. [स्पर्शरसगन्धवर्णैः] स्पर्श, रस, गंध और वर्णसे [विवर्जितः] रहित है. [गुणपर्य्येयसमवेतः] गुण और पर्य्यायसहित है अर्थात् समवाय सम्बन्धसे स्थित है. तथा [समुदयव्ययध्रौव्यैः] उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकरके [समाहितः] निष्पन्न है.

भावार्थ—पुर्=उत्तम चैतन्यगुण उनमें जो शेते=स्वामी होकर प्रवृत्ति करै उसे पुरुष[1] संज्ञा है अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप चेतनाके नाथको पुरुष कहते हैं. आत्माका यह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव इन तीन दोषोंसे रहित असाधारण लक्षण है. पदार्थका जो लक्षण कहा जावे वह किसी २ लक्ष्यमें तो पाया जावे और किसी २ लक्ष्यमें नहीं पाया जावे वह लक्षण अव्याप्ति दूषणयुक्त कहा जाताहै. इस अव्याप्ति दूषणसे रहित चैतन्यगुणयुक्त आत्माका लक्षण होता है. क्योंकि ऐसा कोई आत्मा नहीं जिसमें चेतना न हो परन्तु जब आत्माका लक्षण "रागादिसहित" कहा जावेगा तो इसमें अव्याप्ति दूषणका प्रादुर्भाव होगा क्योंकि रागादिक यद्यपि समस्त संसारी जीवोंके पाये जातेहैं परन्तु सिद्ध जीवोंके नहीं है। और जो लक्षण लक्ष्यमें पाया जाकर अलक्ष्यमें भी पाया जावे उसे अतिव्याप्तियुक्त कहते हैं, आत्माका उक्त लक्षण इस अतिव्याप्ति दूषणसे भी रहित है क्योंकि, 'चेतनालक्षण' जीवपदार्थको छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थमें संघटित नहीं होता. परन्तु यदि आत्माका लक्षण अमूर्तीक (मूर्तिरहित) कहा जावे तो अतिव्याप्ति दूषण आ घेरता है क्योंकि, आत्माका अमूर्तीक गुण धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंमें भी पाया जाता है[2]. और जो लक्षण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणोंसे लक्ष्यमात्रमें पाया ही नहीं जाता है उसे असंभवी कहते हैं. आत्माका 'चेतनालक्षण' इस दूषणसे भी मुक्त है, क्योंकि यह लक्षण जीवमें प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया हुआ है. परन्तु आत्माका लक्षण यदि जड़युक्त कहा जावे तो असंभव दोषका आगमन होता है क्योंकि, यह लक्षण प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणसे बाधित है, इसप्रकार आत्माका चेतना लक्षण तीनों दोषोंसे रहित है. चेतना दो प्रकारकी है एक ज्ञानचेतना और दूसरी दर्शनचेतना. जो चेतना पदार्थोंको विशेषतासे साकाररूप प्रदर्शित करै अर्थात् जाने उसे ज्ञानचेतना और जो सामान्यरूपसे निराकाररूप प्रदर्शित करै उसे दर्शनचेतना कहते हैं. फिर यही चेतना परिणमनकी अपेक्षा तीन प्रकार है. एक ज्ञानचेतना जो कि शुद्धज्ञान स्वभावरूप परिणमन करती है दूसरी कर्मचेतना जो कि

---

१ पुरि शेते इति पुरुषः

२ धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य भी अमूर्तीक हैं.

रागादि कार्यरूप परिणमन करती है और तीसरी **कर्मफलचेतना** जो कि सुखदुःखादि भोगनेरूप परिणमन करती है. उक्त प्रकारसे चेतनाके अनेक स्वांग होते हैं परन्तु चेतनाका अभाव कहीं भी नहीं होता. इसी चेतनालक्षणसहित विराजमान जीवसंज्ञक पदार्थका नाम **पुरुष** है.

'स्पर्शरसगंधवर्णैः विवर्जितः'—आठ प्रकार स्पर्श[1], दो प्रकार गंध[2], पांच प्रकार रस[3], पांचप्रकार वर्ण[4], इत्यादि पौद्गलिक लक्षणोंसे रहित अमूर्तीक पुरुष है. उक्त विशेषणसे पुरुषकी पुद्गलसे पृथक्ता प्रकट की गई है क्योंकि. यह आत्मा अनादिसम्बन्धरूप पुद्गल द्रव्यमें 'अहंकार, ममकार, रूप प्रवृत्ति करता है. पुनः **"गुणपर्य्ययसमवेतः"** पुरुष गुणपर्य्यायोंसे तादात्मक है, क्योंकि द्रव्य गुणपर्य्यायमय है. आत्मा एक द्रव्य है इसीलिये गुण पर्य्यायोंसहित विराजमान है. गुणका लक्षण सहभूत[5] है और जो द्रव्योंमें सदाकाल पाये जावें उन्हें गुण कहते हैं. आत्मामें **साधारण** और **असाधारण** भेदसे दो प्रकारके गुण हैं जिनमें ज्ञान दर्शनादिक तो असाधारण गुण हैं क्योंकि इनकी प्राप्ति अन्य द्रव्योंमें नहीं है और अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादिक साधारण गुण हैं क्योंकि ये अन्यद्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। पर्य्यायका लक्षण क्रमवर्त्ती है, द्रव्योंमें जो अनुक्रमसे उत्पन्न होवें उन्हें पर्य्याय कहते हैं, आत्माके यह पर्य्याय दो भेदरूप हैं १ नरनारकादि आकृतिरूप वा सिद्धाकृतिरूप **व्यञ्जनपर्य्याय** और रागादिकपरिणमनरूप व षट् प्रकार हानिवृद्धिरूप **अर्थपर्य्याय.** इन गुणपर्य्यायोंसे आत्माकी तादात्मक एकता है. इस विशेषणसे आत्माका विशेष्य जाना जाता है तथा—

"समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः"—नवीन अर्थपर्य्याय व व्यञ्जनपर्य्यायकी उत्पत्तिको **उत्पाद**, पूर्व पर्य्यायके नाशको **व्यय**, और गुणकी अपेक्षा व पर्य्यायकी अपेक्षा शाश्वतपनेको **ध्रौव्य** कहते हैं. आत्मा तीन गुणोंसे संयुक्त रहता है जैसेः—सुवर्णकी कुण्डल पर्य्यायमें उत्पत्ति (उत्पाद), कंकणमें विनाश (व्यय), और पीतत्वादिक व सुवर्णत्वकी अपेक्षा ध्रौव्यत्व (मौजूदगी) रहता है इस विशेषणसे आत्माका अस्तित्व व्यक्त होता है.

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥ १०॥

अन्वयार्थौ—[सः] वह चैतन्य आत्मा [अनादिसन्तत्या] अनादि परिपाटीसे

---

१ शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मृदु, कठोर, हलका, भारी.
२ सुगन्ध, दुर्गन्ध.
३ तिक्त, कटुक, कषायला, खट्टा, मीठा.
४ अरुण, पीत, श्वेत, नील, कृष्ण.
५ सह= द्रव्यके साथ है भूत= सत्ता जिसकी.

[नित्यं] निरन्तर [ज्ञानविवर्तैः] ज्ञानावरणसहित रागादि परिणामोंसे [परिणममानः] परिणमते हुए [स्वेषां] अपने [परिणामानाम्] रागादि परिणामोंका [कर्त्ता च भोक्ता च] कर्त्ता और भोक्ता भी [भवति] होता है.

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे अशुद्ध हो रहा है, आज ही इसमें कुछ नवीन अशुद्धता नहीं हुई है. नित्य कर्मरूप द्रव्यकर्मसे रागादिक होते हैं और फिर रागादिक परिणामोंसे द्रव्यकर्मका बंध होता है. आत्मा और अशुद्धताका "सुवर्णकीटिकावत्" (सुवर्ण और कीटके समान) अनादिसम्बन्ध है. आत्मा इस अशुद्ध सम्बन्धसे अपने ज्ञान स्वभावको विस्मरण किये हुए उदयागत कर्मपर्य्यायोंमें इष्ट अनिष्ट भावसे रागादिकरूप परिणमन करता है. यद्यपि इन परिणामोंका कारण द्रव्यकर्म है तथापि इनका (परिणामोंका) चैतन्यमय होनेसे व (आत्माके साथ) व्याप्य[1]व्यापक सम्बन्ध होनेसे आत्माही कर्त्ता[2] है और भाव्य[3]भावक भावसे आत्मा ही भोक्ता[4] है.

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥ ११॥

अन्वयार्थौ—[यदा] जिस समय [सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः] भले प्रकार पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त [सः] उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा [सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं] सम्पूर्ण विभावोंके पारंगत होकर [अचलं] अपने निष्कम्प [चैतन्यं] चैतन्य स्वरूपको [प्राप्नोति] प्राप्त होता है, [तदा] तब 'यह आत्मा' [कृतकृत्यः] कृतकृत्य [भवति] होता है.

भावार्थ—जब आत्मा **स्वपरभेदविज्ञानसे** शरीरादिक परद्रव्योंको पृथक् जानने लगता है तब उन द्रव्योंमें 'यह भला' और 'यह बुरा' ऐसी बुद्धिका परित्याग करता है क्योंकि, भला बुरा अपने परिणामोंसे होता है परद्रव्योंके करनेसे नहीं होता और जो समस्त परद्रव्योंमें रागद्वेषभावोंका त्याग करनेपर भी रागादिकोंकी उत्पत्ति होती है तो उनके शमन करनेकेलिये अनुभवके अभ्यासमें उद्यमवान् रहता है और ऐसा होनेसे जिस समय सर्व विभावभावोंका नाश होकर अक्षोभसमुद्रवत् शुद्धात्मस्वरूपमें लवणवत्

---

१ साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं. जैसे, धूम और अग्निमें साहचर्य्य (सहचारीपना) पाया जाता है. जहां धूम हो वहां अग्नि अवश्य ही होती है क्योंकि, धूमकी उत्पत्ति अग्निसे ही है. ठीक इस ही प्रकार आत्मा और रागादिक परिणामोंमें साहचर्य पाया जाता है क्योंकि, जहां रागादिक होवे हैं वहां आत्मा अवश्य होता है कारण आत्मासे ही रागादिक होते हैं, अथच इस व्याप्तिकी क्रियामें कर्म व्याप्य और कर्त्ता व्यापक है ये रागादिक भाव आत्माके करनेसे होते हैं इसलिये वे व्याप्य और उनका कर्त्ता आत्मा है इसलिये वह व्यापक होगा.

२ ऐसा व्याप्यव्यापकसम्बन्ध जहां पाया जाता है वहां ही कार्यकारणसम्बन्ध संभाव्य होता है.

३ अनुभवन करने योग्य भावको भाव्य और अनुभवन करनेवाले पदार्थको भावक कहते हैं.

४ यह भाव्यभावकसम्बन्ध जहां घटित हो, वहां भोग्यभोक्तासम्बन्ध घटित होता है अन्यत्र नहीं.

परिणाम लवलीन हो जाता है तब ध्याता और ध्येयका विकल्प नहीं रहता, और ऐसा नहीं जानता है कि, मैं शुद्धात्मस्वरूपका ध्यान करता हूं; किन्तु आप ही तादात्मवृत्तिसे शुद्धात्मस्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करता है, उस समय आत्मा कृतकृत्य कहलाता है. क्योंकि उसे जो कुछ करना था सब कर चुका, कुछ भी अवशेष नहीं रहा. इस ही अवस्थाको पुरुषार्थसिद्धि कहते हैं क्योंकि इसमें पुरुषके अर्थ अर्थात् कार्यकी सिद्धि हो जाती है.

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

अन्वयार्थौ—[अत्र] इस प्रकरणमें [जीवकृतं] जीवके किये हुए [परिणामं] रागादिक परिणामोंको [निमित्तमात्रं] निमित्तमात्र [प्रपद्य] पा करके [पुनः] फिर [अन्ये पुद्गलाः] अन्य पुद्गलस्कन्ध [स्वयमेव] स्वतः ही [कर्मभावेन] ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे [परिणमन्ते] परिणमन करते हैं।

भावार्थ—जिस समय जीव, रागद्वेषमोहभावरूप परिणमन करता है, उस समय उन भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वतः ही कर्म अवस्थाको धारण करते हैं; विशेष केवल इतना ही है कि, जो आत्मा देव, गुरु धर्मादिकं प्रशस्त रागरूप परिणमन करता है उसके शुभ कर्मका बंध होता है. और जो अन्य अप्रशस्त रागद्वेष व मोहरूप परिणमन करता है उसे पापका बंध होता है. यहां यदि यह प्रश्न किया जावे कि "जीवके महा सूक्ष्मरूप भावोंकी स्मृति जड़ पुद्गलको किसप्रकार होती है? और यदि नहीं होती तो वे पुद्गल परमाणु विना कारण ही पुण्यपापरूप परिणमन कैसे करते हैं? तो उसका उत्तर यह है कि, जैसे एक मंत्रसाधक पुरुष गुप्तस्थानमें बैठकर किसी मंत्रका जप करता है और उसके विना ही किये केवल मंत्रकी शक्तिसे अन्यजनोंको पीड़ा उत्पन्न होती है व सुख होता है. ठीक इस ही प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरंगमें उत्पन्न हुए विभाव भावोंकी शक्तिसे उनके विना ही कहे कोई पुद्गल पुण्यरूप और कोई पुद्गल पापरूप परिणमन करते हैं. सारांश इसके भावोंमें ऐसी कुछ विचित्रशक्ति है कि उसके निमित्तसे पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्थायें धारण करते हैं.

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥

---

१ कारणमात्र.

२ परमाणुओंका समूह अर्थात् कार्माणवर्गणा.

३ निंद्य.

४ खबर.

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चय करके [स्वकैः] अपने [चिदात्मकैः] चेतनास्वरूप [भावैः] रागादिक परिणामोंसे [परिणममानस्य] परिणमते हुए [तस्य चितः अपि] पूर्वोक्त आत्माके भी [पौद्गलिकं] पुद्गलसम्बन्धी [कर्म] ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म [निमित्तमात्रं] कारणमात्र [भवति] होते हैं.

भावार्थ—जीवके रागादि विभाव भाव स्वयं नहीं होते हैं क्योंकि, जो आपहीसे उत्पन्न होवें तो ज्ञानदर्शनके समान ये भी स्वभाव भाव हो जावें और स्वभाव भाव हो जानेसे अविनाशी हो जावें, अतएव ये भाव उपाधीक हैं क्योंकि अन्य निमित्तसे उत्पन्न होते हैं. और यह निमित्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मका जानना चाहिये. जैसे २ द्रव्यकर्म उदय अवस्थाको प्राप्त होते हैं, वैसे २ आत्मा विभावभावोंसे परिणमन करता है. अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, पुद्गलमें ऐसी कौनसी शक्ति है जो चैतन्यके नाथको भी विभावभावोंमें परिणमन कराता है. इसका समाधान इस प्रकार होता है कि, जैसे किसी पुरुषपर मंत्रपूर्वक रज (धूलि) डाली जावे तो वह आपको भूलकर नाना प्रकार विपरीत चेष्टायें करने लगता है क्योंकि, मंत्रके प्रभावसे उस रजमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो चतुर पुरुषको भी पागल बना देती है; इसी प्रकार यह आत्मा अपने प्रदेशोंमें रागादिकोंके निमित्तसे बंधरूप हुए पुद्गलोंके कारण आपको भूलकर नानाप्रकार विपरीत भावोंमें परिणमन करता है. सारांश इसके विभाव भावोंसे पुद्गलमें ऐसी शक्ति हो जाती है जो चैतन्यपुरुषको विपरीत चलाती है।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थौ—[एवं] इस प्रकार [अयं] यह आत्मा [कर्मकृतैः] कर्मोंके किये हुए [भावैः] भावोंसे [असमाहितोऽपि] संयुक्त न होनेपर भी [बालिशानां] अज्ञानी जीवोंको [युक्तः इव] संयुक्त सरीखा [प्रतिभाति] प्रतिभासित होता है. और [सः] वह प्रतिभास ही [खलु] निश्चय करके [भवबीजं] संसारका बीजभूत है.

भावार्थ—पूर्वमें कहा गया है कि, रागादिकभाव पुद्गलकर्मको कारणभूत हैं और पुद्गलकर्म रागादिक भावोंको कारणभूत है. इससे यह आत्मा निजस्वभावभावोंकी अपेक्षा नाना प्रकारके कर्मजनित भावोंसे पृथक् ही चैतन्यमात्र वस्तु है. जैसे लाल रंगके निमित्तसे स्फटिकमणि लालरूप दिखलाई देता है यथार्थमें लालस्वरूप नहीं है, रक्तत्व तो स्फटिकसे अलिप्त ऊपरही ऊपर की झलकमात्र है और स्फटिक स्वच्छ श्वेतवर्णत्वसे शोभायमान है. इस बातको परीक्षक जौहरी अच्छी तरहसे जानता है परन्तु जो रत्नपरीक्षाकी कलासे अनभिज्ञ है वह स्फटिकको रत्नमणि व रक्त स्वरूप ही देखता है. इसीप्रकार कर्म निमित्तसे आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है परन्तु यथार्थमें

रागादिक आत्माके निजभाव नहीं है, आत्मा अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुणसहित विराजमान है. रागादिकपन तो स्वरूपसे विभिन्न ऊपर ही ऊपर की झलकमात्र है. इस बातको स्वरूपके परीक्षक सच्चे ज्ञानी भलीभांति जानते हैं परन्तु अज्ञानी अपरीक्षकोंको आत्मा रागादिरूप ही प्रतिभासित होता है. यहांपर यदि कोई प्रश्न करै कि, पहिले जो रागादिक भाव जीवकृत कहे गये थे, उन्हें अब कर्मकृत क्यों कहते हो? तो इसका समाधान यह है कि, रागादिक भाव चेतनारूप हैं इसलिये इनका कर्त्ता जीव ही है परन्तु श्रद्धान करानेके लिये इस स्थलपर मूलभूत जीवके शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा रागादिकभाव कर्मके निमित्तसे होते हैं, अतएव कर्मकृत हैं. जैसे भूतग्रहीत मनुष्य भूतके निमित्तसे नानाप्रकारकी जो विपरीत चेष्टायें करता है उनका कर्त्ता यदि शोधा जावे तो वह मनुष्य ही निकलेगा परन्तु वे विपरीत चेष्टायें उस मनुष्यके निजभाव नहीं है भूतकृत हैं. इसीप्रकार यह जीव कर्मके निमित्तसे जो नानाप्रकार विपरीतभावरूप परिणमन करता है उन (भावों)का कर्त्ता यद्यपि जीव ही है परन्तु ये भाव जीवके निजस्वभाव न होनेसे कर्मकृत कहे जाते हैं अथवा कर्मकृत नाना प्रकारके पर्य्याय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म्म, नोकर्म्म, देव, नारकी, मनुष्य, तिर्य्यञ्च, शरीर, संहनन, संस्थानादिक भेद व पुत्रमित्रादि धनधान्यादि भेदोंसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न है, इसके अतिरिक्त और भी सुनिये.

एक मनुष्य अज्ञानी गुरुके उपदेशसे छोटेसे भुँहिरेमें बैठके भैंसेका ध्यान करने लगा और अपनेको भैंसा मानके दीर्घ शरीरके चिंतवनमें आकाशपर्यन्त सींगोंवाला बन गया तब इस चिंतामें पड़ा कि, भुँहिरेमेंसे मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा? ठीक यही दशा जीवकी मोहके निमित्तसे हो रही है जो आपको वर्णादि स्वरूप मानके देवादिक पर्य्यायोंमें आपा मानता है. भैंसा माननेवाला यदि अपनेको भैंसा न माने तो आखिर मनुष्य बना ही है. इसी प्रकार देवादिक पर्य्यायोंको भी जीव यदि आपा न माने; तो अमूर्तीक शुद्धात्मा आप बना ही है. सारांश आत्मा कर्मजनित रागादिक अथवा वर्णादिक भावोंसे सदाकाल भिन्न है. तदुक्तम्—"वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः[1]"

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वं ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ॥ १५ ॥

भावार्थ—[**विपरीताभिनिवेशं**] विपरीतश्रद्धानको [**निरस्य**] नष्टकर [**निजतत्त्वं**] निज स्वरूपको [**सम्यक्**] यथावत् [**व्यवस्य**] जानके [**यत्**] जो [**तस्मात्**] उस अपने स्वरूपसे [**अविचलनं**] च्युत न होना [**स एव**] वह ही [**अयं**] यह [**पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**] पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है.

---

1 इस पुरुष अर्थात् आत्माके वर्णादि रागादि अथवा मोहादि सर्व ही भाव (आत्मासे) भिन्न हैं.

भावार्थ—पूर्वकथित कर्मजनित पर्य्यायोंको आत्मा मान लेना इसको ही विपरीत श्रद्धान कहते हैं. इस विपरीत श्रद्धानके समूल नष्ट करनेको सम्यग्दर्शन, कर्मजनित पर्य्यायोंसे भिन्न शुद्धचैतन्यस्वरूपके यथावत् जाननेको सम्यग्ज्ञान और कर्मजनित पर्य्यायोंसे उदासीन हो निजस्वरूपमें स्थिरीभूत होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं तथा इन तीनों अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका समुदायही कार्यसिद्ध होनेका उपाय है. अन्य कोई उपाय नहीं है.

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ—[**एतत्पदं अनुसरतां**] इस रत्नत्रयरूप पदवीको अनुसरण करनेवाले अर्थात् प्राप्तहुए [**मुनीनां**] महा मुनियोंकी [**वृत्तिः**] वृत्ति[1] [**करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा**] पापक्रियासम्मिश्रित आचारोंसे सर्वदा पराङ्मुख, तथा [**एकान्तविरतिरूपा**] परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीनरूप और [**अलौकिकी**] लोकसे विलक्षण प्रकारकी [**भवति**] होती है.

भावार्थ—महामुनियोंकी प्रवृत्ति जगतके लोगोंसे सर्वथा निराली होती है. गृहस्थीका आचरण पापक्रियासे मिलाहुआ होता है और ऐसे आचरणोंसे महामुनि सर्वथा दूर रहते हैं. वह केवल अपने आत्मीक चैतन्य स्वभावका ही अनुभवन करते हैं.

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**बहुशः**] बारंबार [**प्रदर्शितां**] दिखलाई हुई [**समस्तविरतिं**] सकलपापरहित मुनिवृत्तिको [**जातु**] कदाचित् [**न गृह्णाति**] ग्रहण न करै तो [**तस्य**] उसे [**एकदेशविरतिः**] एकोदेश पापक्रियारहित गृहस्थाचारको [**अनेन बीजेन**] इस हेतुसे [**कथनीया**] समझावे अर्थात् कथन करै.

भावार्थ—जो जीव उपदेश सुननेका अभिलाषी हो, उसे पहिले मुनिधर्मका उपदेश देना चाहिये और यदि वह मुनिधर्म ग्रहण करने योग्य सामर्थ्य न रखता हो तो तत्पश्चात् श्रावकधर्मका उपदेश देवे. क्योंकि,—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो [**अल्पमतिः**] तुच्छबुद्धि उपदेशक, [**यतिधर्मम्**] मुनिधर्मको [**अकथयन्**] नहीं कह करके [**गृहस्थधर्मम्**] श्रावकधर्मको [**उपदिशति**] उपदेश देता है [**तस्य**] उस उपदेशकको [**भगवत्प्रवचने**] भगवतके सिद्धान्तमें [**निग्रहस्थानं**] दंड देनेका स्थान [**प्रदर्शितम्**] प्रदर्शित किया है.

---

1 अन्तरंग परिणाम–वर्तन.

भावार्थ—जो उपदेशदाता पहिले यतीश्वरके धर्मको न सुनाकर श्रावकधर्मका व्याख्यान देता है उसको जिनमतमें प्रायश्चित्तरूप दंड देने योग्य बतलाया है, क्योंकि—

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽपि दूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९ ॥

अन्वयार्थौ—[यतः] जिस कारणसे [तेन] उस [दुर्मतिना] दुर्बुद्धिके [अक्रमकथनेन] क्रमभंगकथनरूप उपदेश करनेसे [अतिदूरं] अत्यन्त दूरतक [प्रोत्साहमानोऽपि] उत्साहमान् हुआ भी [शिष्यः] शिष्य [अपदे] तुच्छस्थानमें [संप्रतृप्तः] सन्तुष्ट होकर [प्रतारितः] प्रतारित (ठगायाहुवा) [भवति] होता है.

भावार्थ—किसी शिष्यको धर्मका इतना उत्साह था कि, यदि उसे मुनिधर्मका उपदेश मिलता तो मुनिपदवी अंगीकार करलेता परन्तु उपदेशदाता उसे पहिले ही श्रावकधर्मका उपदेश देने लगा तो ऐसे समयमें वह श्रावकधर्म ही ग्रहण करनेमें सन्तुष्ट होगया, सारांश पहिले मुनिधर्मका उपदेश करना चाहिये.

अथ श्रावकधर्मव्याख्यानमाह.

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यं ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥ २० ॥

अन्वयार्थौ—[एवं] इसप्रकार [तस्यापि] उस गृहस्थको भी [यथाशक्ति] अपनी शक्तिके अनुसार [सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनभेदरूप [मोक्षमार्गः] मुक्तिका मार्ग [नित्यं] सर्वदा [निषेव्यो] सेवन करने योग्य [भवति] होता है.

भावार्थ—मुनि तो मोक्षमार्गका सेवन पूर्णरूपसे करते ही हैं किन्तु गृहस्थको भी यथाशक्ति (थोड़ा बहुत) सेवन करना चाहिये.

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च ॥ २१ ॥

अन्वयार्थौ—[तत्रादौ] इन तीनोंके पहिले [अखिलयत्नेन] समस्तप्रकारके उपायोंसे [सम्यक्त्वं] सम्यग्दर्शन [समुपाश्रयणीयं] भले प्रकार अंगीकार करना चाहिये [यतः] क्योंकि [तस्मिन् सति एव] इसके अस्तित्व होते हुए ही [ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [च] और [चरित्रं] सम्यक् चारित्र [भवति] होता है.

भावार्थ—सम्यक्त्वके विना ग्यारहअंगपर्यन्त पठन किया हुआ ज्ञान भी 'अज्ञान'

---

१ जो आगे कहेंगे.

कहलाता है तथा महाव्रतादिकोंकी भावनासे अन्तिमग्रैवेयिकपर्य्यन्तबंधयोग्यविशुद्धपरिणामोंसे भी असंयमी कहलाता है परन्तु सम्यक्त्वसहित थोड़ासा जानना भी सम्यग्ज्ञानको और अल्पत्याग भी सम्यक्चारित्रको प्राप्त होता है. जैसे अंकरहित बिन्दी (शून्य) कुछ भी कार्यसाधक नहीं होती और वही अङ्कसहित होनेसे दशगुणमानवर्द्धक होजाती है, इसी तरह सम्यक्त्वरहित ज्ञान और चारित्र व्यर्थ ही हैं परन्तु सम्यक्त्वपूर्वक अल्पज्ञान और अल्प चारित्र भी मोक्षके साधक होजाते हैं. अतएव सबसे प्रथम सम्यक्त्वको ही अङ्गीकार करना चाहिये पश्चात् अन्य साधनादिक ।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थौ—[जीवाजीवादीनां] जीव अजीव आदिक [तत्त्वार्थानाम्] तत्त्वोंके अर्थोंका [विपरीताभिनिवेशविविक्तम्] विपरीत हठाग्रहरहित अर्थात् औरका और मिथ्यास्वरूपज्ञानरहित [श्रद्धानम्] श्रद्धान अर्थात् दृढ़विश्वास [सदैव] निरन्तर ही [कर्त्तव्यं] करने योग्य है. और [तत्] वह ही श्रद्धान [आत्मरूपं] आत्माका स्वरूप है.

भावार्थ—तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण हैं. और वह श्रद्धान 'सामान्यरूप' और 'विशेषरूप' ऐसे दो प्रकारका है. परभावोंसे भिन्न अपने चैतन्यस्वरूपको आपरूप श्रद्धान करना **सामान्यतत्त्वार्थश्रद्धान** है, यह नारकतिर्यञ्चादिक समस्त सम्यग्दृष्टी जीवोंके पाया जाता है और जीव अजीवादिक सप्ततत्त्वोंको विशेषतासे जानकर श्रद्धान करना **विशेषतत्त्वार्थश्रद्धान** है, यह मनुष्य देवादिक बहुश्रुत (विशेषज्ञानी) जीवोंके पाया जाता है. परन्तु राजमार्गसे ये दोनों श्रद्धान सप्ततत्त्वोंके जाने विना नहीं हो सक्ते क्योंकि, जो तत्त्वोंको न जाने तो श्रद्धान किसका करै? यहां प्रसङ्गानुसार तत्त्वोंका वर्णन करना समुचित होगा अतएव उनका थोड़ासा स्वरूप दिया जाता है:—

१. जीवतत्त्व—जो चैतन्यलक्षणसहित विराजमान हो उसे जीव कहते हैं. इसके शुद्ध, अशुद्ध, और मिश्र ये तीन भेद होते हैं ।

(१) शुद्धजीव—जिन जीवोंके सम्पूर्ण गुणपर्य्याय अपने निजभावको परिणमते हैं अर्थात् केवलज्ञानादिगुण शुद्धपरणति पर्य्यायमें विराजमान हुए हों उन्हें शुद्धजीव कहते हैं ।

(२) अशुद्धजीव—जिन जीवोंके सम्पूर्ण गुणपर्य्याय विकारभावको प्राप्त हो रहे हों उन्हें अशुद्धजीव कहते हैं. अर्थात् जिनके ज्ञानादिक गुण तो आवरणसे आच्छादित हो रहे हों और परिणति रागादिरूप परिणमन कर रही हो ।

(३) मिश्रजीव—जिन जीवोंके सम्यक्त्वादिगुण कुछ विमलरूप हुए हों और कुछ

समल हों, ज्ञानादि गुणोंकी कुछ शक्तियां शुद्ध हुई हों अवशेष सर्व अशुद्ध हों और परिणति जिनकी शुद्धरूप परिणमन करती हो उन्हें मिश्रजीव कहते हैं।

२. अजीवतत्त्व—जो पदार्थ चैतन्यगुणरहित हो उसे अजीव कहते हैं इसके पांच भेद हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

(१) पुद्गल—जो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन चार गुणोंसे संयुक्त हो उसे पुद्गल कहते हैं. इसके दो भेद हैं अणु और स्कन्ध. एकाकी अविभागी परमाणुको अणु और अनेक अणुओंके समूहको स्कन्ध कहते हैं. पुद्गलद्रव्यके अणु और स्कन्धोंके अतिरिक्त १ स्थूलस्थूल, २ स्थूल, ३ स्थूलसूक्ष्म, ४ सूक्ष्मस्थूल, ५ सूक्ष्म, और ६ सूक्ष्मसूक्ष्म ये छह भेद और भी हैं. स्थूलस्थूल—जो काष्ठपाषाणादिकोंके समान छेदे भेदे जा सकें. स्थूल—जो जल दुग्धादि द्रवपदार्थोंके समान छिन्नभिन्न होनेपर पुनः मिल सकें. स्थूलसूक्ष्म—जो आतप चांदनी अंधकारादि परमाणुओंके समान दृष्टिगत होवें परन्तु पकड़े न जा सकें. सूक्ष्मस्थूल—जो शब्दगंधादिके परमाणुओंके समान दिखाई न देवें परन्तु श्रवणनासिकादि अन्य इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जा सकें. सूक्ष्म—जो कार्म्माण वर्गणादिक बहुत परमाणुओंके स्कन्ध हों. और सूक्ष्मसूक्ष्म—अविभागी परमाणुओंको कहते हैं।

(२) धर्म—जो द्रव्य जीव और पुद्गलकी गतिमें सहकारी हो उसे धर्मद्रव्य कहते हैं. यह लोकप्रमाण अमूर्त्तीक एकद्रव्य है।

(३) अधर्म—जो द्रव्य जीव और पुद्गलकी स्थितिमें सहकारी हो उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं. यह भी लोकप्रमाण अमूर्त्तीक एकद्रव्य है।

(४) आकाश—जो द्रव्य जीवादिक समस्त पदार्थोंको अवकाश देनेमें समर्थ हो उसे आकाश कहते हैं. इसके लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो भेद हैं, जिसमें सम्पूर्ण द्रव्यैं पाये जावें उसे लोकाकाश कहते हैं और जहां केवल आकाश पाया जावे उसे अलोकाकाश कहते हैं. इन दोनोंका सत्त्व पृथक् २ नहीं है एक द्रव्य है।

(५) काल—जो द्रव्य सम्पूर्ण द्रव्योंके परिवर्तन करनेमें समर्थ है और जो वर्तनाहेतुत्व-लक्षणसे संयुक्त हो उसे कालद्रव्य कहते हैं यह लोकके एक २ प्रदेशपर

---

१ कहीं २ कर्म वर्गणाओंसे अति सूक्ष्म द्व्यणुकस्कन्धपर्यन्तको भी सूक्ष्मसूक्ष्म कहा है.

२ सात तत्त्व और पुण्यपाप ये दो द्रव्य मिलकर नव पदार्थ होते हैं.

३ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छह द्रव्य हैं और कालरहित अर्थात् धर्म अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पांचकी पंचास्तिकाय संज्ञा होती है.

स्थित एकपरमाणुमात्र असंख्यात द्रव्य है. कालद्रव्यके परिणमन निमित्तसे आवलिकादि व्यवहारसमय होते हैं।

३. आस्रवतत्त्व—जीवके रागादिक परिणामोंसे मनवचनकायके योगोंद्वारा पुद्गलपरमाणुओंके आनेको आस्रव कहते हैं।

४. बंधतत्त्व—जीवके रागादिकरूप अशुद्धताके निमित्तसे आये हुए पुद्गल परमाणुओंका ज्ञानावरणादि स्वस्थितिसहित आत्मरससंयुक्त आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्धरूप होना बंधतत्त्व कहलाता है।

५. संवरतत्त्व—जीवके रागादिक अशुद्ध परिणामोंके अभावसे कर्म परमाणुओंके आस्रवका रुकना संवरतत्त्व कहलाता है।

६. निर्जरातत्त्व—जीवके शुद्धोपयोगके वलसे पूर्वसंचित कर्मपरमाणुओंके एकोदेश नाश होनेको निर्जरा कहते हैं।

७. मोक्षतत्त्व—जीवके कर्मोंके सर्वथा नाश होने और निज स्वभावके प्रगट होनेको मोक्ष कहते हैं।

उल्लिखित सप्ततत्त्वोंके अर्थका उक्त प्रकारसे यथार्थश्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहाता है. यहां पर यदि कोई यह प्रश्न करै कि, "सम्यग्दर्शनके उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्तिदूषणका प्रादुर्भाव होता है क्योंकि, जिस समय सम्यग्दृष्टिजीव विषय कषायकी तीव्रतासंयुक्त होता है, उस समय उसका यह श्रद्धान नहीं रहता! लक्षण ऐसा कहना चाहिये जो लक्ष्यमें निरन्तर पाया जावे." तो इसका उत्तर नीचे लिखे अनुसार जानकर समाधान करना चाहियेः—

"जीवके श्रद्धानरूप और परिणमनरूप दो भाव हैं. इनमेंसे श्रद्धानरूप सम्यक्त्वका लक्षण है और परिणमनरूप चारित्रका लक्षण है. सुतरां सम्यग्दृष्टिजीव उस विषयकषायकी तीव्रतामें परिणमनरूप होता है न कि श्रद्धानरूप. उसका तत्त्वार्थमें यथावत् विश्वास है, इसका स्पष्टीकरण नीचेलिखे उदाहरणसे शीघ्र ही हो जावेगाः—

एक गुमाश्ता जो किसी शेठकी दूकानपर नौकर है; अपने हृदयमें शेठकी संपत्तिको पृथक् जानता हुआ भी उसके हानिलाभमें हर्षविषाद करता है उसे निरन्तर मेरी २ कहकर सम्बोधित करता है और अन्तरंगमें जो परत्वका विश्वास है उसे कभी बाहिर नहीं लाता, सुतरां यह विश्वास उसके हृदयमें शक्तिरूप रहता है. किन्तु जिस समय शेठके सन्मुख अपना हिसाब पेश करता है उस समय अन्तरंगका विश्वास प्रत्यक्ष प्रगट कर देता है, गुमाश्ता इस नौकरीके कार्यको यद्यपि पराधीन दुःख जानता है परन्तु धनशक्तिहीन होनेसे आजीविकाके वश लाचारीसे उसे दासकर्म करना पड़ता है. ठीक इसी प्रकार ज्ञानीजीव उदयमें आयेहुए कर्मोंके परिपाकको भोगता है. वह अपने हृदयमें इसे औदयिक-

ठाठ तथा अपने स्वरूपको भिन्न जानता हुआ भी इष्ट अनिष्ट संयोगमें हर्ष विषाद करता है, उस औदयिक सम्बन्धको बाह्यमें मेरा २ भी कहता है और अपनी प्रतीतिका वारंवार स्मरण भी नहीं करता क्योंकि, वह प्रतीति कर्मके उदयमें शक्तिरूप रहती है, परन्तु जिस समय उस कर्मका और अपने स्वरूपका विचार करता है उस समय उस अन्तरंगकी प्रतीतिको ही प्रगट करता है. ज्ञानी जीव कर्मके उदयको यद्यपि पराधीन दुःख जानता है परन्तु अपनी शुद्धोपयोगरूप शक्तिकी हीनताके कारण पूर्वबद्धकर्मोंके वश हो लाचारीसे कर्मके औदयिक भावोंमें प्रवृत्ति करता है।

इसभांति सम्यक्त्वधारीजीवके तत्त्वार्थश्रद्धान सामान्यरूप और विशेषरूप शक्तिअवस्था अथवा व्यक्तअवस्थाको लिये निरन्तर पाया जाता है. यहांपर प्रश्न उठता है कि, "इस लक्षणमें अव्याप्तिदूषणका तो अभाव है परन्तु अतिव्याप्तिदूषण अवश्य आता है क्योंकि, द्रव्यलिंगी मुनि जिनप्रणीततत्त्वोंको ही मानते हैं अन्यमतकल्पिततत्त्वोंको नहीं मानते. लक्षण ऐसा कहना चाहिये जो लक्ष्यके विना अन्यस्थानपर न पाया जावे !" इसका समाधान इसप्रकार है किः—

द्रव्यलिङ्गीमुनि जिनप्रणीततत्त्वोंको ही मानते हैं परन्तु विपरीताभिनिवेशसंयुक्त शरीराश्रित क्रियाकांडको अपना जानते हैं, (यहां अजीवतत्त्वमें जीवत्व श्रद्धान हुआ) पुनश्च आस्रव बंधरूप शीलसंयमादि परिणामोंको संवर निर्ज्जरारूप मानते हैं. वे यद्यपि पापसे विरक्त हुए हैं परन्तु पुण्यमें उपादेयबुद्धि रखते हैं, अतएव तत्त्वार्थका यथार्थश्रद्धान नहीं हुआ।

सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका वर्णन.

१. निःशङ्कित.

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या॥ २३॥

अन्वयार्थौ—[अखिलज्ञैः] सर्वज्ञपुरुषोंद्वारा [इदं] यह [सकलं] समस्त [वस्तुजातम्] जीवादिक पदार्थोंका समूह [अनेकान्तात्मकं] अनेक स्वभावरूप [उक्तं] कहा गया हैं सो [किमु सत्यं] क्या सत्य है? [वा असत्यं] वा झूठ है? [इति] ऐसी [शंका] शंका [जातु] कदाचित् भी [न] नहीं [कर्त्तव्या] करना चाहिये।

भावार्थ—जिनप्रणीत पदार्थोंमें सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि, जिन भगवान् अन्यथावादी नहीं हैं. इसको निःशङ्कित[1] अंग कहते हैं।

---

१ इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥ ११॥ इति श्रीस्वामि समन्तभद्रकृते रत्नकरण्डश्रावकाचारे.

अर्थात्—तत्त्व येही है, ऐसेही है, अन्य नहीं है, अथवा और प्रकार नहीं है ऐसी निष्कम्प खड्गधारके पानीके समान सन्मार्गमें संशयरहितरुचि स्थापित करना इसको निरशंकित अंग कहते हैं।

२. निःकाङ्क्षित.

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थौ—[इह] इस [जन्मनि] लोकमें [विभवादीनि] ऐश्वर्य्य सम्पदा आदिको [अमुत्र] परलोकमें [चक्रित्वकेशवत्वादीन्] चक्रवर्ती नारायणादि पदोंको [च] और [एकान्तवाददूषितपरसमयान्] एकान्तस्वभाववादी अन्यधर्मोंको [अपि] भी [न] नहीं [आकाङ्क्षेत्] चाहै ।

भावार्थ—सम्यक्त्वधारी जीव लोक और परलोकसम्बन्धी समस्त पुण्यके फलोंकी आकांक्षा नहीं करता है क्योंकि, वह पुण्यके फलरूप इन्द्रियोंके विषयोंको आकुलताके निमित्तसे दुःखरूप ही जानता है, इसको निःकांक्षित अर्थात् वाञ्छारहित अंग कहते हैं ।

३. निर्विचिकित्सा.

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥ २५ ॥

अन्वयार्थौ—[क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु] भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि [नानाविधेषु] नानाप्रकारके [भावेषु] भावोंमें और [पुरीषादिषु] विष्टादिक [द्रव्येषु] पदार्थोंमें [विचिकित्सा] ग्लानि [नैव] नहीं [करणीया] करना चाहिये ।

भावार्थ—पापके उदयसे अथवा दुःखदायक भावोंके संयोगसे उद्वेगरूप नहीं होना चाहिये. क्योंकि, उदयकार्य अपने वशका नहीं है और इससे अपने अमूर्तीक आत्माका घात भी नहीं होता. विष्टादिक निंद्य अपवित्र वस्तुओंको देख ग्लानि नहीं करना चाहिये क्योंकि, उस वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है और शरीर तो जिसमें आत्माका निवास है इससे भी अधिकतर निंद्यवस्तुमयी है. इस ग्लानिरहित रूप अंगका नाम निर्विचिकित्सा है ।

४. अमूढदृष्टित्व.

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ २६ ॥

---

१ कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥ र० क० श्रा०
अर्थात्—कर्मके आधीन, अंतसहित, उदयमें दुःखमिश्रित और पापके बीजरूप सुखमें अनित्यताका श्रद्धान निःकांक्षित अंग है ।

२ स्वभावतोऽशुचौकाये रत्नत्रयपवित्रते । निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥ १३ ॥ र० क० श्रा०
अर्थात्—रत्नत्रयसे पवित्र किन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीरमें ग्लानि नहीं करके गुणोंमें प्रीति करना इसको निर्जुगुप्सा कहते हैं ।

३ कापथे पथि दुःखानां कापस्थेप्यसम्मतिः । असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥ र० क० श्रा०
अर्थात्—दुःखदायक कुत्सित मार्गमें और कुमार्गमें स्थित पुरुषोंमें मनसे प्रमाणता, कायसे प्रशंसा, और वचनसे स्तुति न करनेको अमूढदृष्टि कहते हैं ।

अन्वयार्थौ—[**लोके**] लोकमें [**शास्त्राभासे**] शास्त्राभासमें [**समयाभासे**] धर्माभासमें [**च**] और [**देवताभासे**] देवताभासमें [**तत्त्वरुचिना**] तत्त्वोंमें रुचि रखनेवाले पुरुषको [**नित्यमपि**] सदा ही [**अमूढदृष्टित्वम्**] मूर्खतारहित दृष्टित्व अर्थात् [**कर्त्तव्यम्**] करना चाहिये।

भावार्थ—लोकके जन विपरीतरूप प्रवृत्ति करते हैं उनकी देखादेखी सम्यग्दृष्टीको न चलना चाहिये, ज्ञानसे विचारकर कार्य करना उचित है. इसही प्रकार अन्य कपोलकल्पित ग्रन्थ सद्ग्रन्थोंके समान मालूम हों, झूठे मत सच्चे सरीखे मालूम हों, व झूंठे देव सुदेवसमान मालूमहों तो धोखेमें न आना चाहिये और उनमें श्रद्धान न करना चाहिये. सारांश ज्ञानसे भ्रष्ट होनेके कारणोंसे हमेशा सावधान रहना उचित है. मूढ़दृष्टि अर्थात् ज्ञानरहित मदोन्मत्तके समान विना विचारे प्रवृत्ति न करना चाहिये, सम्यक्त्वका यह अमूढ़दृष्टित्व नामक चौथा अंग है।

५. उपगूहन.

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थौ—[**उपबृंहणगुणार्थम्**] उपबृंहण नामक गुणके अर्थ [**मार्दवादिभावनया**] मार्दव क्षमा संतोषादि भावोंके द्वारा [**सदा**] निरन्तर [**आत्मनो धर्मः**] अपने आत्माके धर्म अर्थात् शुद्धस्वभावको [**अभिवर्द्धनीयः**] वृद्धिंगत करना चाहिये और [**परदोषनिगूहनमपि**] अन्य पुरुषोंके दोषोंको भी गुप्त रखना [**विधेयम्**] कर्त्तव्यकर्म है।

भावार्थ—उपबृंहण शब्दका अर्थ 'बढ़ाना' है, अतएव अपने आत्माका धर्म बढ़ाना कहा गया तथा इस अंगको उपगूहन भी कहते हैं, जिसका अर्थ ढांकना है, इससे पराये दोषोंका ढांकना लक्षित होता है. क्योंकि, दोषोंके प्रगट करनेसे सदोषी पुरुषकी आत्माको अत्यन्त कष्ट होता है।

६. स्थितिकरण.

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यं ॥ २८ ॥

१ आभास—यथार्थमें जैसा पदार्थ नहीं है वैसा भ्रमबुद्धिसे दिखलाई देने लगे. जैसे मिथ्यादृष्टियोंके बनाये हुए शास्त्र यथार्थमें शास्त्र नहीं है परन्तु भ्रमसे शास्त्र प्रतीत होवें, यह शास्त्राभास है।

२ स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयां। वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥ र० क० श्रा० अर्थात्—"स्वयंशुद्ध मोक्षमार्गकी अशक्त और अज्ञानी जीवोंके आश्रयसे होती हुई निन्दाके दूर करनेको उपगूहन कहते हैं।

३ दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः। प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥ १६ ॥ र० क० श्रा० अर्थात्—सम्यग्दर्शनसे व सम्यक्चारित्रसे चलायमान् होते हुए जीवोंको धर्मवत्सलविद्वानोंद्वारा स्थिरीभूत करनेको स्थितिकरण कहते हैं।

अन्वयार्थौ—[कामक्रोधमदादिषु] काम क्रोध मद लोभादिकके भावोंके होनेपर [न्यायात् वर्त्मनः] न्यायमार्ग अर्थात् धर्ममार्गसे [चलयितुम्] च्युत करनेको [उदितेषु] प्रगट होतेहुए [आत्मनः] अपने आपको [परस्य च] और अन्यपुरुषोंको भी [श्रुतम्] जिस तिसप्रकार [युक्त्या] युक्तियोंसे [स्थितिकरणम्] धर्ममें स्थिरीभूत करना [अपि] भी [कार्यं] कर्त्तव्य है ।

भावार्थ—अपने परिणाम धर्मसे भ्रष्ट होते हों तो आपको और जो दूसरेके होते हों तो दूसरे जिस प्रकार हो सके धर्ममें दृढ़ करना, सम्यक्त्वका यह स्थितिकरण नाम छठवाँ अंग है ।

७. वात्सल्य.

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबंधने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालंब्यम् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थौ—[शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने] मोक्षसुखकी सम्पदाके कारणभूत [धर्मे] जैनधर्ममें, [अहिंसायां] अहिंसामें, [च] और [सर्वेष्वपि] समस्त ही [सधर्मिषु] उक्तधर्मसहित अर्थात् साधर्मीजनोंमें [अनवरतम्] निरन्तर [परमं] उत्कृष्ट [वात्सल्यम्] वात्सल्य वा प्रीतिको [आलम्ब्यम्] अवलम्बन करना चाहिये ।

भावार्थ—गोवत्ससरीखी प्रीतिको वात्सल्य कहते हैं, जैसे गाय बछड़ेके वात्सल्यवश सिंहके सम्मुख जानेकेलिये प्राणमय होनेपर भी नहीं हिचकती, धर्म और धर्मात्माओंमें ऐसी ही परम प्रीति रखना चाहिये, चाहे अपना सर्वस्व लग जावे. यह सम्यक्त्वका वात्सल्य नामक सातवां अंग है ।

८. प्रभावना.

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थौ—[सततं एव] निरन्तर ही [रत्नत्रयतेजसा] रत्नत्रयके तेजसे [आत्मा] अपने आत्माको [प्रभावनीयः] प्रभावनासंयुक्त करना चाहिये [च] और [दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः] दान, तपश्चरण, जिनपूजन, विद्याभ्यास आदि चमत्कारोंसे [जिनधर्मः] जिनधर्म (प्रभावनीयः) प्रभावनायुक्त करना चाहिये ।

भावार्थ—अतिशय प्रकट करनेको 'प्रभावना' कहते हैं, सो अपनी आत्माका

---

१ स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा । प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥ र० क० श्रा० अर्थात्—अपने समूहके धर्मात्मा जीवोंका समीचीन भावसे कपट रहित यथायोग्य सत्कार करनेको वात्सल्य कहते हैं ।

२ अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं । जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥ र०क० श्रा० अर्थात्—अज्ञानान्धकारकी व्याप्तिको जैसे तैसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्यका प्रकाश करना प्रभावना है।

अतिशय तो रत्नत्रयका प्रताप बढ़नेसे प्रगट होता है और जिनधर्मका अतिशय अधिक दान देने, तपश्चरण करने, समारोह सहित पूजन विधान करने, शास्त्रोंका ज्ञान प्रगट करने, और निर्दोष देवादिकोंके चमत्कार दिखानेसे वृद्धिंगत होता है. सम्यक्त्वका यह प्रभावना नामक आंठवां अंग है ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचिते पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोपे सम्यग्दर्शनवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः ।

अथ सम्यग्ज्ञानव्याख्यानमाह.

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थौ—[इति] इस प्रकार [आश्रितसम्यक्त्वैः] आश्रित है सम्यक्त्व जिनके ऐसे [आत्महितैः] आत्माके हितकारी पुरुषोंसे [नित्यम्] सर्वदा [आम्नाय-युक्तियोगैः] जिनागमकी परम्परा व युक्ति अर्थात् प्रमाणनयके अनुयोगोंद्वारा [निरूप्य] विचार करके [यत्नेन] यत्नपूर्वक [सम्यग्ज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [समुपास्यं] भले प्रकार सेवन करने योग्य है ।

भावार्थ—पदार्थका जो स्वरूप जिनागमकी परम्परासे मिलै उसे प्रमाणनयपूर्वक अपने उपयोगमें स्थितकर यथावत् जानना यही सम्यग्ज्ञानकी यथार्थ सेवा है ।

प्रमाणनयका संक्षिप्तस्वरूप.

प्रमाण.

'तत्प्रमाणे, तत्त्वार्थसूत्रके इस वचनसे सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, यह स्पष्ट है. प्रमाणके मुख्य दो भेद हैं. एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष. हम यहांपर पहिले प्रत्यक्षप्रमाणके ही भेदोपभेद बतलाते हैं ।

प्रत्यक्षप्रमाण—इसके दो भेद हैं एक पारमार्थिकप्रत्यक्ष दूसरा सांव्यावहारिक-प्रत्यक्ष. जो ज्ञान केवल आत्माहीके आधीन रहकर जितना अपना विषय है उतना विशुद्धतासे स्पष्ट जाने, वह पारमार्थिकप्रत्यक्ष है और जो नेत्रादिक इन्द्रियोंसे वर्णादि-कोंको साक्षात् ग्रहणकालमें जाने, वह सांव्यावहारिकप्रत्यक्ष है, पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है एकदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष और सर्वदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष. अवधिज्ञान और मनपर्य्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष व केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है. सांव्यावहारिकप्रत्यक्ष व्यवहार दृष्टिसे प्रत्यक्ष कहा गया है परन्तु परमार्थदृष्टिसे परोक्ष ही कहा जाता है. क्योंकि इस ज्ञानसे सर्वथा स्पष्ट जानना नहीं होता. जैसे–किसी वस्तुको नेत्रसे देखते ही ज्ञान हुआ कि, यह वस्तु श्वेतवर्णी है. यद्यपि उस वस्तुमें मलिनताका भी मिलाप है परन्तु

स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होसका कि, उसमें कितने अंश श्वेतताके हैं और कितने मलिनताके हैं. अतएव यह व्यवहारमात्र प्रत्यक्ष है यथार्थमें परोक्ष है.

परोक्षप्रमाण—जो इंद्रियजन्यज्ञान अपने विषयको स्पष्ट न जाने उसे परोक्षप्रमाण कहते हैं, मतिज्ञान और श्रुतिज्ञानसे जो कुछ जाना जाता है वह सब परोक्षप्रमाण है, इसके मुख्य पांच भेद हैं. १ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान, और ५ आगम.

१. **स्मृति**—पूर्वमें जो पदार्थ जाना था उसके स्मरणमात्रको स्मृति कहते हैं.

२. **प्रत्यभिज्ञान**[1]—पूर्ववार्ताका स्मरणकर प्रत्यक्ष पदार्थके निश्चय करनेको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं—जैसे किसी पुरुषने पहिले सुनाथा कि, **गवयपशु** गायसरीखा होता है और फिर वह कदाचित् जंगलमें **गवय** देखकर जाने कि, जो गायसरीखा गवय जानवर सुना था वह यही है, इस ज्ञानमें 'वह' इतने मात्र ज्ञानको स्मृति "यह" इतनेको अनुभव और स्मृति तथा अनुभव सम्मिश्रित "वह यही है" इतने ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते है.

३. **तर्क**—व्याप्तिज्ञानको[2] तर्क कहते हैं और एकके विना एक न होवे इसे व्याप्ति कहते हैं, जैसे अग्निके विना धूम नहीं रहता, आत्माके विना चेतना नहीं रहती, इसी व्याप्तिका जानना तर्क कहलाता है.

४. **अनुमान**—सङ्केतों (चिन्हों) से पदार्थके निश्चय करनेको अनुमान कहते हैं, जैसे किसी पर्वतमेंसे धूम्र निकलतेहुए देखकर निश्चय करना कि, इसमें अग्नि है.

५. **आगम**—आप्तवचनोंके निमित्तसे पदार्थके निश्चय करनेको आगम कहते हैं जैसे शास्त्रोंसे लोकादिकका स्वरूप जानना।

'नय'

ऊपर कहे हुए प्रमाणके अंशको ही **नय** कहते हैं अर्थात् प्रमाणद्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थके एक धर्मको मुख्यतासे जो अनुभवन कराता है वह नय है. इसके दो भेद हैं एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्य्यायार्थिक नय.

द्रव्यार्थिकनय—जो नय द्रव्यकी मुख्यतासे पदार्थका अनुभवन करावे उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं इसके भी ३ भेद हैं १ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार.

१. **नैगम**—संकल्पमात्रसे पदार्थके ग्रहण करनेको नैगम कहते हैं, जैसे कोई मनुष्य कठोती (काठका वर्तनविशेष) के लिये काष्ठ लानेको जाताथा उससे किसीनें पूछा कि, भाई! कहां जाता है उसने कहा कि, 'कठौतीके लिये जाता हूं, यहांपर विचारना चाहिये कि, यद्यपि जहां जाता है वहां उसको कठौती नहीं मिलेगी परन्तु उसके चित्तमें यह है कि, मैं काष्ठ लाकर फिर उसकी कठौती ही बनाऊंगा.

---

१ तत्त्वोल्लेखिज्ञानं स्मृतिः, इन्द्रियग्राहिवर्तमानकालावच्छिन्नपदार्थज्ञानमनुभवः, एतत् उभयसंकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमिति. २ व्याप्यव्यापक सम्बन्धोहि व्याप्तिस्तद्ज्ञानं तर्क इति.

२. संग्रह–सामान्यरूपसे पदार्थके ग्रहण करनेको संग्रह कहते हैं जैसे षड्द्रव्योंके समूहको द्रव्य कहना.

३. व्यवहार–सामान्यरूपसे कहे हुए विषयको विशेष करना इसे व्यवहार कहते हैं. जैसे द्रव्यके ६ भेद करना.

पर्य्यायार्थिकनय–जो नय द्रव्यके स्वरूपसे उदासीन होकर पर्य्यायकी मुख्यता कर पदार्थका अनुभवन कराता है. उसे पर्य्यायार्थिक कहते हैं–इसके १ ऋजुसूत्र, २ शब्द, ३ समभिरूढ़ और ४ एवंभूत ये चार भेद हैं.

१. ऋजुसूत्र–जिस नयसे वर्तमान पर्य्यायमात्रका ग्रहण किया जावे उसे ऋजुसूत्र-नय कहते हैं. जैसे देवको देव और मनुष्यको मनुष्य कहना.

२. शब्द–व्याकरणादिमतसे शब्दकी अशुद्धियां दूर करनेको शब्दनय कहते हैं.

३. समभिरूढ़–पदार्थमें मुख्यतासे एक अर्थके आरूढ़ करनेको समभिरूढ़ कहते हैं, जैसे 'गच्छतीतिगो, इस वाक्यसे जो गमन करै वही गाय होती है, परन्तु सोतीहुई व बैठीहुईको भी गाय कहना यह समभिरूढनयका विषय है.

४. एवंभूत–वर्तमानक्रिया जिस प्रकार हो उसी प्रकार कहनेको एवंभूत कहते हैं. अर्थात् जिस समय चलतीहुई हो उसीसमय गाय कहना, सोती व बैठी अवस्थामें गाय नहीं कहना।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्य्यायार्थिक दोनों मिलकर सात नय होते हैं. ऊपर कहे हुए प्रमाण और नयके संयोगको **"नयप्रमाणाभ्याम् युक्ति"** इति वचनात् (इस वचनसे) युक्ति कहते हैं. इस अवसरपर यह प्रमाण और नयका संक्षिप्त कथन "प्रमाणनयैरधिगमः" (पदार्थोंका यथार्थज्ञान प्रमाणनयोंकरके ही होता है) सूत्रपर ध्यान देकरही किया-गया है और इसका आगे काम भी बहुत पड़ेगा।

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः॥ ३२॥

अन्वयार्थौ—[**बोधस्य**] सम्यग्ज्ञानका [**दर्शनसहभाविनोपि**] सम्यग्दर्शनके साथ उत्पन्न होनेपर भी [**पृथगाराधनम्**] पृथक्ही आराधन करना [**इष्टं**] ठीक अर्थात् कल्याणकारी है [**यतः**] क्योंकि, [**अनयोः**] इन दोनोंमें [**लक्षणभेदेन**] लक्षणभेदकर [**नानात्वं**] भिन्नता [**संभवति**] संभव होती है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका लक्षण यथार्थश्रद्धान है और सम्यग्ज्ञानका लक्षण यथार्थ-जानना है इसी कारण सम्यग्ज्ञानका आराधन करना पृथक् कहा है.

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥ ३३॥

अन्वयार्थौ—[**जिनाः**] जिनेन्द्रदेव [**सम्यग्ज्ञानम्**] सम्यग्ज्ञानको [**कार्यं**] कार्य और [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्वको [**कारणं**] कारण [**वदन्ति**] कहते हैं [**तस्मात्**] इस कारण [**सम्यक्त्वानन्तरं**] सम्यक्त्वके पीछे ही [**ज्ञानाराधनम्**] ज्ञानकी उपासना [**इष्टम्**] प्रिय है।

भावार्थ—यद्यपि पहिले मतिज्ञानसे पदार्थको जानते थे परन्तु सम्यक्त्वके विना उन दोनोंका नाम कुमति और कुश्रति था, जिस समय सम्यक्त्व हुआ उसी समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान नाम पाया, सारांश ज्ञान यद्यपि था परन्तु सम्यक्त्वपना सम्यग्दर्शनसेही हुआ अतएव सम्यक्त्व कारणरूप और सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥ ३४॥

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकर [**सम्यक्त्वज्ञानयोः**] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंके [**समकालम्**] एककालावच्छिन्न [**जायमानयोः अपि**] उत्पन्न होनेपर भी [**दीपप्रकाशयोः**] दीप और प्रकाशके [**इव**] समान [**कारणकार्यविधानम्**] कारण और कार्यकी विधि [**सुघटम्**] भले प्रकार घटित होती है।

भावार्थ—यद्यपि दीपकका जलना और उसका प्रकाश एकही साथ होता है और जबतक दीपक जलता रहता है तब ही तक प्रकाश रहता है, परन्तु दीपकका जलना प्रकाशका कारण है और प्रकाश कार्य है. इसीप्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एकही समय होते हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन कारण है और ज्ञान कार्य है।

कर्त्तव्योध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥ ३५॥

अन्वयार्थौ—[**सदनेकान्तात्मकेषु**] प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाववाले [**तत्त्वेषु**] तत्त्वों वा पदार्थोंमें [**अध्यवसायः**] जानपना [**कर्तव्यः**] करना योग्य है और [**तत्**] वह सम्यग्ज्ञान [**संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तम्**] संशय विपर्यय और विमोहरहित [**आत्मरूपं**] आत्माका निज स्वरूप है।

भावार्थ—पदार्थके स्वरूपको यथार्थ जानना (पदार्थ जिन अनेक स्वभावोंसे संयुक्त है उनको भलीभांति जानना) सम्यक्ज्ञान कहलाता है और यह सम्यग्ज्ञान आत्माका निजस्वरूप है. सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय और विमोह इन तीन भावोंसे रहित होना चाहियेः—

संशय—विरुद्ध द्विविधारूप ज्ञानको संशय कहते हैं जैसे रात्रिमें किसीको देखकर संदेह करै कि, न जाने यह पदार्थ मनुष्य है, कि राक्षस है, अथवा व्यन्तर है.

विपर्यय—अन्यथारूप इकतरफी ज्ञानको विपर्यय कहते हैं जैसे मनुष्यमें व्यन्तरकी प्रतीति.

विमोह—'कुछ है, केवल इतनाही जाननेको विमोह कहते हैं जैसे गमन करते समय तृणका स्पर्श।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्॥ ३६॥

अन्वयार्थौ—[**ग्रन्थार्थोभयपूर्णं**] ग्रन्थरूप (शब्दरूप) अर्थरूप और उभय अर्थात् शब्दअर्थरूपशुद्धतासे परिपूर्ण [**काले**] कालमें अर्थात् अध्ययनकालमें आराधने योग्य [**विनयेन**] मनवचनकायकी शुद्ध साररूप विनय [**च**] और [**बहुमानेन**] अतिशय सम्मानकर अर्थात् देवगुरु शास्त्रकी वन्दनानमस्कारादिकर [**समन्वितं**] सहित, [**सोपधानं**] धारणायुक्त तथा [**अनिह्नवं**] शिक्षक अर्थात् गुरुकी गोपनासे रहित [**ज्ञानं**] ज्ञान [**आराध्यम्**] आराधन करने योग्य है।

भावार्थ—१ शब्दाचार, २ अर्थाचार, ३ उभयाचार, ४ कालाचार, ५ विनयाचार, ६ उपधानाचार, ७ बहुमानाचार, और ८ अनिह्नवाचार ये ज्ञानके आठ अङ्ग हैं:—

१. **शब्दाचार**—शब्दशास्त्र (व्याकरण) के अनुसार, अक्षर, पद, वाक्यका पठनपाठन यत्नपूर्वक शुद्ध करनेको कहते हैं. व्यञ्जनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि सब एकार्थवाची हैं.

२. **अर्थाचार**—यथार्थ शुद्ध अर्थके अवधारण करनेको कहते हैं.

३. **उभयाचार**[1]—अर्थ और शब्द दोनोंसे शुद्धपठनपाठन करनेको कहते हैं.

४. **कालाचार**—गोसर्ग[2]काल, प्रदोष[3]काल, प्रदोष[4]काल, और विरात्रि[5]काल इनचार उत्तम कालोंमें पठनपाठनादिरूप स्वाध्याय करनेको कालाचार कहते हैं, चारों संध्याओंकी अन्तिम दो २ घड़ियोंमें, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्यचन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प, आदि उत्पातोंके समयमें सिद्धान्तग्रन्थोंका पठन वर्जित है. हां स्तोत्र, आराधना धर्मकथादिकके ग्रन्थ वांच सक्ते हैं.

५. **विनयाचार**—शुद्धजलसे हस्तपादादि प्रक्षालनकर शुद्धस्थानमें पर्यङ्कासन बैठकर नमस्कार पूर्वक शास्त्राध्ययनको कहते हैं.

---

१ उभयाचारको शब्द अर्थसे पृथक् करके तीसरा भेद माननेका कारण यह है कि, कहीं २ केवल ग्रन्थसे ही ज्ञानकी आराधना होती है जैसे दशाध्यायसूत्र तथा भक्तामरादिस्तोत्रोंके पाठमात्रसे और कहीं २ केवल अर्थसे ही जैसे, शिवभूतिमुनि केवल 'शरीरसे आत्मा तुषमांषकी तरह भिन्न है, यह जानकर कल्याणको प्राप्त हुए.

२ मध्यान्हसे दो घड़ी पहिले और सूर्योदयसे दो घड़ी पीछे.

३ मध्यान्हके दो घड़ी पश्चात् और रात्रिसे दो घड़ी पहिले.

४ रात्रिके दो घड़ी उपरान्त और मध्यरात्रिसे दो घड़ी पहिले.

५ मध्यरात्रिसे दो घड़ी पश्चात् और सूर्योदयसे दो घड़ी प्रथम.

६. उपधानाचार–उपधान सहित आराधन करनेको अर्थात् विस्मृत न हो जानेको कहते हैं.

७. वहुमानाचार–ज्ञान, पुस्तक और शिक्षकका पूर्ण आदर करनेको कहते हैं.

८. अनिह्नवाचार–जिस गुरुसे जिस शास्त्रसे ज्ञान उत्पन्न होवे उसका गोपन न करनेको कहते हैं।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचिते पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषे सम्यग्ज्ञानवर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः।

अथ सम्यक्चारित्रव्याख्यानमाह।

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥ ३७॥

अन्वयार्थौ—[विगलितदर्शनमोहैः] दर्शनमोह जिन्होंने नष्ट कर डाला है. [समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः] सम्यग्ज्ञानकर जिन्हें तत्त्वार्थ विदित हुआ है, [नित्यमपि निःप्रकम्पैः] जो सदाकाल अकंप अर्थात् दृढचित्त हैं, ऐसे पुरुषोंद्वारा [सम्यक्चारित्रम्] सम्यक्चारित्र [आलम्ब्यम्] अवलम्बन करने योग्य है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् सम्यक्चारित्र अंगीकार करना चाहिये।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८॥

अन्वयार्थौ—[अज्ञानपूर्वकं चरित्रम्] जिसके पूर्वमें अज्ञानभाव है ऐसा चारित्र [सम्यग्व्यपदेशं] सम्यक्नामको [न हि] नहीं [लभते] पाता. [तस्मात्] इसकारण [ज्ञानानन्तरं] सम्यग्ज्ञानके पश्चात् [चारित्राराधनम्] चारित्रका आराधन [उक्तम्] कहा है।

भावार्थ—पहिले यदि सम्यग्ज्ञान न होवे और पापक्रियाका त्यागकर चारित्रभार धारण करे तो वह चारित्र सम्यक्चारित्र नामको नहीं पा सक्ता. जैसे विना जानी औषधिके सेवनसे मरण संभव है उसी प्रकार विना ज्ञानके चारित्र सेवनसे संसारकीवृद्धि होना संभव है. विना जीवके मृतक शरीरस्थ इन्द्रियोंके आकार जैसे निष्प्रयोजन हैं वैसे ही विना ज्ञानके शरीरका वेष क्रियाकांडसाधन शुद्धोपयोगप्राप्तिके साधक नहीं हो सक्ते।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ ३९॥

अन्वयार्थौ—[यतः] क्योंकि [समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्] समस्तपापयुक्त मन

वचन कायके योगोंके त्यागसे [सकलकपायविमुक्तं] सम्पूर्ण कपायोंसे रहित अतएव, [विशदम्] निर्मल, [उदासीनम्] पर पदार्थोंसे विरक्ततारूप [चारित्रं] चारित्र [भवति] होता है [तत्] वह चारित्र [आत्मरूपं] आत्माका स्वरूप है।

भावार्थ—समस्त कषायोंका अभाव होनेसे यथाख्यातचारित्र होता है. सामायिक चारित्रमें यद्यपि सकलचारित्री हुआ था, परन्तु संज्वलनकपायके कारण मन्दता नहीं गई थी, अतएव जब सकल कषायोंसे रहित हुआ तब यथाख्यातचारित्र नाम पाया अर्थात् चारित्रका जो स्वरूप था वह प्रगट हुआ. प्रसङ्गोपात :—

प्रश्न–स्वभाव चारित्र है कि, नहीं?

उत्तर–शुभोपयोग विशुद्ध परिणामोंसे होता है और विशुद्धता मंदकपायको कहते हैं इसलिये कषायकी हीनतासे कथंचित् चारित्र है. पुनः—

प्रश्न–देव, गुरु, शास्त्र, शील, तप, संयमादिकोंमें होनेवाली अत्यन्तरागरूपप्रवृत्तिको जो मन्दकपाय ही है, क्या कहना चाहिये?

उत्तर–यह रागरूपप्रवृत्ति विपयकपायादिकके रागकी अपेक्षा मन्द कपायही है. क्योंकि, इस राग प्रवृत्तिमें क्रोध, मान, मायाका तो नाम नहीं है रहा प्रीति भावकी अपेक्षा लोभ, सो भी सांसारिक प्रयोजन युक्त नहीं है अतएव लोभ कपायकी भी मन्दता ठहरी, और फिर ज्ञानीजीव रागभावोंका प्रेरा हुआ अशुभरागोंको छोड़ शुभरागमें प्रवृत्त हुआ है, कुछ शुभरागको उपादेयरूप श्रद्धान नहीं कर बैठा है, वल्कि अपने शुद्धोपयोग-रूप चारित्रको मलिनताका कारणही जानता है अशुभोपयोगी कपायोंकी तीव्रता गई है इसलिये किसी प्रकार चारित्र कह सक्ते हैं।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसातः] हिंसासे, [अनृतवचनात्] असत्यभाषणसे, [स्तेयात्] चोरीसे, [अब्रह्मतः] कुशीलसे और [परिग्रहतः] परिग्रहसे [कार्त्स्न्यैकदेशविरतेः] सर्व देश और एकोदेशत्यागसे [चारित्रम्] चारित्र [द्विविधम्] दो प्रकारका [जायते] होता है।

भावार्थ—हिंसादिक पापोंके सर्वथा त्यागको सकलचारित्र और एकोदेशत्यागको देशचारित्र कहते हैं।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयं।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थौ—[तस्यां] उस [कार्त्स्न्यनिवृत्तौ] सर्वथा सर्वदेशत्यागमें [निरतः] लवलीन [अयं यतिः] यह मुनि [समयसारभूतः] शुद्धोपयोगरूप स्वरूपमें आचरण करनेवाला

[भवति] होता है. [यातुएकदेशविरतिः] और जो एक देशविरति है [तस्यां निरतः] उसमें लगाहुआ [उपासको] उपासक अर्थात् श्रावक [भवति] होता है।

भावार्थ—सकल चारित्रका स्वामी मुनि और देशचारित्रका स्वामी श्रावक है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥ ४२॥

अन्वयार्थौ—[आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्] आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घात होनेके हेतुसे [एतत्सर्वम्] यह सम्पूर्ण [हिंसा एव] हिंसा ही हैं, [अनृतवचनादि] अनृतवचनादिक भेद [केवलम्] केवल मात्र [शिष्यबोधाय] शिष्योंको समझानेके लिये [उदाहृतम्] उदाहरणरूप कहे हैं।

भावार्थ—पांचो पाप (हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह) हिंसामेंही गर्भित हैं क्योंकि इन सब पापोंसे आत्माके शुद्ध परिणामोंका घात होता है. इस कारण पांचोपाप हिंसाके ही भेद हैं।

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ ४३॥

अन्वयार्थौ—[खलु] निश्चयकर [कषाययोगात्] कषायरूप परिणमन हुए मनवचनकायके योगोंसे [यत्] जो [द्रव्यभावरूपाणाम्] द्रव्य और भावरूप दो प्रकारके [प्राणानाम्] प्राणोंका [व्यपरोपणस्य करणं] व्यपरोपणका (घातका) करना है [सा] वह [सुनिश्चिता] अच्छीतरह निश्चय कीहुई [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है.

भावार्थ—जिस पुरुषके मनमें, वचनमें व कायमें क्रोधादिक कषाय प्रगट होते हैं उसके शुद्धोपयोगरूप भावप्राणोंका घात तो पहिले होता है क्योंकि, कषायके प्रादुर्भावसे भावप्राणका व्यपरोपण होता है, यह प्रथम हिंसा है. पश्चात् यदि कषायकी तीव्रतासे, दीर्घश्वासोच्छ्वाससे, हस्तपादादिकसे वह अपने अंगको कष्ट पहुंचाता है अथवा आत्मघात कर लेता है तो उसके द्रव्य प्राणोंका व्यपरोपण होता है, यह दूसरी हिंसा है. फिर उसके कहे हुए मर्मभेदी कुवचनादिकोंसे व हास्यादिसे लक्ष्यपुरुषके अन्तरंगमें पीड़ा होकर उसके भावप्राणोंका व्यपरोपण होता है; यह तीसरी हिंसा है. और अन्तमें इसकी तीव्रकषाय व प्रमादसे लक्ष्यपुरुषको जो शारीरिक अंगछेदन आदि पीड़ा पहुंचायी जाती है सो परद्रव्यप्राणव्यपरोपण होता है, यह चौथी हिंसा है. सारांश—कषायसे अपने परके भावप्राण व द्रव्यप्राणका घात करना यह हिंसाका लक्षण है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ ४४॥

अन्वयार्थौ—[खलु] निश्चय करके [**रागादीनाम्**] रागादि भावोंका [**अप्रादुर्भावः**] प्रगट न होना [इति] यह [**अहिंसा**] अहिंसा है और [**तेषामेव**] उन्हीं रागादि भावोंकी [**उत्पत्तिः**] उत्पत्ति होना [**हिंसा**] हिंसा [**भवति**] होती है, [इति] ऐसा [**जिनागमस्य**] जैनसिद्धान्तका [**संक्षेपः**] संक्षिप्त रहस्य है।

भावार्थ—अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणका घात रागादिक भावोंसे होता है अतएव रागादिक भावोंका अभावही अहिंसा है, और शुद्धोपयोगरूप प्राणघात होनेसे उन्हीं रागादिक भावोंका सद्भाव हिंसा है. परमअहिंसाधर्मप्रतिपादक जैनधर्मका यही रहस्य हैं।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥ ४५॥

अन्वयार्थौ—[अपि] निश्चयकर [**युक्ताचरणस्य**] योग्य आचरण वाले [**सतः**] सन्तपुरुषके [**रागाद्यावेशमन्तरेण**] रागादिक भावोंके अनुप्रवेशविना [**प्राणव्यपरोपणात्**] केवल प्राणपीड़नसे [**हिंसा**] हिंसा [**जातु एव**] कदाचित् भी [**न हि**] नहीं [**भवति**] होती।

भावार्थ—यदि किसी सज्जनपुरुषके सावधानपूर्वक गमनादि करनेमें भी उसके शरीरसम्बन्धसे कोई जीव पीड़ित हो जावे तो उसे हिंसाका दूषण कदापि नहीं लग सक्ता, क्योंकि उसके परिणाम कषाययुक्त नहीं थे, यही कारण है कि "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं" यह हिंसाका लक्षण कहा है. यदि केवल "**प्राणव्यपरोपणं हिंसा**" अर्थात् प्राणोंको पीड़ा देना मात्र ही हिंसाका लक्षण कहा होता तो ऐसे अवसरपर अतिव्याप्ति दूषणका सद्भाव होता, इसके सिवाय अव्याप्तिदूषणका भी प्रवेश हो जाता जो आगेके श्लोकसे प्रगट होगा।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥ ४६॥

अन्वयार्थौ—[**रागादीनाम्**] रागादिक भावोंके [**वशप्रवृत्तायां**] वशमें प्रवृत्तिरूप

---

१ आदिशब्द द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादिक समस्त विभावभावोंका भी द्योतक है, उक्त विभावभावोंका संक्षिप्त लक्षण इसप्रकार जानना चाहिये:— **राग**—किसी पदार्थको इष्ट जानकर उसमें प्रीतिरूप परिणाम. **द्वेष**—किसीको अपना अनिष्ट जान उसमें अप्रीतिरूप परिणाम. **मोह**—परपदार्थोंमें ममत्वरूप परिणाम. **काम**—स्त्री पुरुष और नपुंसकमें मैथुनरूप परिणाम. **क्रोध**—किसीकी अनुचित कृति जानके उसे दुःखदेनेरूप परिणाम. **मान**—अपनेको बड़ा मानना. **माया**—मन, वचन, कायमें एकताका अभाव. **लोभ**—परपदार्थोंसे सम्बन्ध करनेके चाहरूप परिणाम. **हास्य**—उत्तम अनुत्तम चेष्टायें देख विकसित परिणाम, **भय**—अपने दुखदायक पदार्थोंको देख डररूप परिणाम. **शोक**—अपने इष्टके अभावमें आर्त्तरूप परिणाम. **जुगुप्सा**—ग्लानिरूप परिणाम **प्रमाद**—कल्याणकारी कार्यमें अनादर।

[व्युत्थानावस्थायाम्] अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्थामें [जीवः] जीव [म्रियताम्] मरो [वा] अथवा [मा'म्रियताम्'] न मरो परन्तु [हिंसा] हिंसा तो [ध्रुवम्] निश्चयकर [अग्रे] आगे ही [धावति] दौड़ती है।

भावार्थ—जो प्रमादी जीव कषायोंके वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्नपूर्वक नही करता वह 'जीव मरें अथवा नहीं मरें, हिंसाके दोषका भागी अवश्य ही होता है, क्योंकि हिंसा कषायभावोंसे उत्पन्न होती है और इसके कषायभावका सद्भाव है ही। इस वाक्यसे प्राणोंको पीड़ा न होते भी हिंसा सिद्ध होती है. यदि पूर्वकथित प्राणव्यपरोपण मात्र (प्राणपीड़नमात्र) लक्षण कहा होता तो अव्याप्तिदूषण आता. विना किसीके प्राणोंका हुएही हिंसा क्यों होगई? इस प्रश्नका समाधान आगेके श्लोकसे हो जावेगा।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥ ४७॥

अन्वयार्थौ—[यस्मात्] क्योंकि [आत्मा] जीव [सकषायः सन्] कषाय भावोंसहित होनेसे [प्रथमम्] पहिले [आत्मना] आपकेही द्वारा [आत्मानम्] आपको [हन्ति] घातता है [तु] फिर [पश्चात्] पीछेसे चाहे [प्राण्यन्तराणाम्] अन्य जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [जायेत] होवे [वा] अथवा [न] नहीं होवे।

भावार्थ—हिंसा शब्दका अर्थ घात करना है परन्तु यह घात दो प्रकारका है एक आत्मघात, और दूसरा परघात. जिस समय आत्मामें कषायभावोंकी उत्पत्ति होती है उसी समय आत्मघात हो जाता है. पीछे यदि अन्यजीवोंकी आयु पूरी होगई होवे, अथवा पापका उदय आगया होवे तो उनका भी घात हो जाता है, अन्यथा आयुकर्म पूर्ण न हुआ होवे पापका उदय न आया होवे, तो कुछभी नहीं होता, क्योंकि उनका घात उनके कर्मोंके आधीन है; परन्तु आत्मघात तो कषायोंकी उत्पत्ति होते ही हो जाता है और आत्मघात व परघात दोनों ही हिंसा हैं।

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥ ४८॥

अन्वयार्थौ—[हिंसायाम्] हिंसामें [अविरमणं] विरक्त न होना [हिंसा] हिंसा, और [हिंसापरिणमनम्] हिंसारूप परिणमना [अपि] भी [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है. [तस्मात्] इसलिये [प्रमत्तयोगे] प्रमादके योगमें [नित्यम्] निरन्तर [प्राणव्यपरोपणं] प्राणघातका सद्भाव है।

भावार्थ—परजीवके घातरूप हिंसा दो प्रकारकी होती है. एक अविरमणरूप और दूसरी परिणमनरूप. १ अविरमणरूप हिंसा उसे कहते हैं जो जीवके परघातमें प्रवृत्त न होने परभी हिंसा त्यागकी प्रतिज्ञाके विना हुआ करती है. क्रियाके विना ही यह हिंसा

क्यों होती है.? इस प्रश्नका उत्तर यह है. कि, जिस पुरुषके हिंसाका त्याग नहीं है वह यद्यपि किसी समय हिंसामें भी प्रवृत्ति नहीं करता, परन्तु उसके अन्तरंगमें हिंसा करनेके अस्तित्व भावका सद्भाव है, अतएव अविरमणरूप हिंसाका भागी होता है. २ परिणमनरूप हिंसा उसे कहते हैं जो जीवको परजीवके घातमें मनवचनकायसे प्रवृत्त होनेपर होती है. इन दोनों प्रकारकी हिंसाओंमें प्रमादसहितयोगका अस्तित्व पाया जाता है और जबतक प्रमाद पाया जाता है, तबतक हिंसाका अभाव किसी प्रकार नहीं हो सक्ता, क्योंकि प्रमादयोगमें सदाकाल परजीवकी अपेक्षाभी प्राणघातका सद्भाव होता है, अतएव प्रमादके परिहारार्थ परजीवोंकी हिंसाके त्यागमें दृढ़प्रतिज्ञ होना चाहिये जिसमें दोनों प्रकारकी हिंसाओंसे बचा रहे।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९. ॥

अन्वयार्थौ—[खलु] निश्चयकर [पुंसः] आत्माके [परवस्तुनिबन्धना] पर वस्तुका है निबंधन (कारण) जिसमें ऐसी [सूक्ष्मापि हिंसा] सूक्ष्महिंसा भी [न भवति] नहीं होती है, [तदपि] तौ भी [परिणामविशुद्धये] परिणामोंकी निर्मलताके लिये [हिंसाऽयतननिवृत्तिः] हिंसाके स्थान परिग्रहादिकोंका त्याग [कार्या] करना उचित है।

भावार्थ—रागादिक कषायभावोंका होना ही हिंसा है, परवस्तुका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु रागादिक परिणाम परिग्रहादिकके निमित्तसे ही होते हैं इस कारण परिणामोंकी विशुद्धताकेअर्थ परिग्रहादिका भी त्याग करना चाहिये क्योंकि, जिस माताका सुभट पुत्र होता है उसीसे यह कहा जाता है कि, मैं तेरे सुभटको मारूंगा परन्तु जिस वांझके पुत्र ही नहीं है उसपर यह परिणाम क्योंकर हो सक्ते हैं कि, मैं तेरे पुत्रको मारूंगा? सारांश परिग्रहादिका अवलम्बन होनेसे ही कषायकी उत्पत्ति होती है, परन्तु जब उनसे सम्बन्ध ही नहीं है तो कहांसे हो?

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [निश्चयम्] यथार्थ निश्चयके स्वरूपको [अबुध्यमानः] नहीं जानकर [तमेव] उसको ही अर्थात् निश्चयश्रद्धानको[1] [संश्रयते] अंगीकार करता है. [सः] वह [बालः] मूर्ख [बहिः करणालसः] बाह्य क्रियामें आलसी है और [करणचरणम्] बाह्यक्रियारूप आचरणको [नाशयति] नष्ट करता है अथवा—

"यः निश्चयं अबुध्यमानः तम् एव निश्चयतः संश्रयते सः बहिःकरणालसः बालः करणचरणं नाशयति" अर्थात्—जो जीव निश्चयनयके स्वरूपको न जानकर व्यवहाररूप बाह्य-

१. निश्चयश्रद्धासे अन्तरङ्ग हिंसाको ही हिंसा मानता है.

परिग्रहके त्यागको निश्चयसे मोक्षमार्ग जान अंगीकार करता है वह मूर्ख शुद्धोपयोगरूप आत्माकी दयाको नष्ट करता है ।

भावार्थ—जो कोई पुरुष यह कहता है कि, मेरे अन्तरंग परिणाम स्वच्छ होना चाहिये बाह्य परिग्रहादिक रखने या भ्रष्टरूप आचरण करनेसे मुझमें कोई दोष नहीं आसक्ता, वह अहिंसाके आचरणको नष्ट करता है क्योंकि, बाह्य निमित्तसे अन्तरंग परिणाम अशुद्ध होते ही हैं, अतएव एक ही पक्ष ग्रहण नहीं करके निश्चय और व्यवहार दोनों ही अंगीकार करना चाहिये ।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चयकर [एकः] कोई जीव [हिंसां] हिंसाको [अविधाय अपि] नहीं करके भी [हिंसाफलभाजनम्] हिंसाफलके भोगनेका पात्र [भवति] होता है और [अपरः] दूसरा [हिंसां कृत्वा अपि] हिंसा करके भी [हिंसाफलभाजनम्] हिंसाके फलको भोगनेका पात्र [न स्यात्] नहीं होता है ।

भावार्थ—जिसके परिणाम हिंसारूप हुए, चाहे वे (परिणाम) हिंसाका कोई कार्य न करसकें हों तौ भी वह जीव हिंसाके फलको भोगेगा और जिस जीवके शरीरसे किसी कारण हिंसा तो होगई परन्तु परिणामोंमें हिंसारूपकता नहीं आई वह हिंसा करनेका भागी कदापि नहीं होगा ।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थौ—[एकस्य] किसी जीवको तो [अल्पा] थोड़ी [हिंसा] हिंसा [काले] उदयकालमें [अनल्पं] बहुत [फलं] फलको [ददाति] देती है. और [अन्यस्य] किसी जीवको [महाहिंसा] बड़ीभारी हिंसा भी [परिपाके] उदयसमयमें [स्वल्पफला] बिलकुल थोड़े फलकी देनेवाली [भवति] होती है ।

भावार्थ—जो पुरुष बाह्यहिंसा तो थोड़ी कर सका हो, परन्तु अपने परिणामोंको हिंसाभावसे अधिक लिप्त रक्खे हो वह तीव्र कर्मबंधका भागी होगा और जो पुरुष परिणामोंमें हिंसाके अधिक भाव न रखकर बाह्यहिंसा अचानक बहुत कर गया हो वह मन्द कर्मबंधका भागी होगा ।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३ ॥

---

१. ४५ वें श्लोकमें भी यही भाव प्रदर्शित किया गया है.

२. 'उपगीति', नामक आर्याछन्द, १२+१५, १२+१५ मात्रा.

अन्वयार्थौ—[सहकारिणोरपि हिंसा] एकसाथ मिलकर की हुई भी हिंसा [अत्र] इस [फलकाले] उदयकालमें [वैचित्र्यम्] विचित्रताको [व्रजति] प्राप्त होती है और [एकस्य] किसीको [सैव] वही हिंसा [तीव्रम्] तीव्र [फलम्] फल [दिशति] देती है और [अन्यस्य] किसीको [सैव] वही [हिंसा] हिंसा [मन्दं] न्यून [फलं] फल देती है।

भावार्थ—यदि दो पुरुष मिलकर कोई हिंसा करें तो उनमेंसे जिसके परिणाम तीव्र कषायरूप हुए हों उसे हिंसाका फल अधिक भोगना पड़ेगा और जिसके मन्दकषायरूप रहे हों उसे अल्प फल भोगना पड़ेगा।

प्रागेव फलति हिंसाऽक्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन॥ ५४॥

अन्वयार्थौ—[च] और [हिंसा] कोई हिंसा [प्राक् एव] पहिले ही [फलति] फल जाती है, कोई [अक्रियमाणा] करते ही [फलति] फलती है, कोई [कृता अपि] कर चुकने पर भी [फलति] फल देती है [च] और कोई [आरभ्यकर्तुम्] हिंसा करनेका आरंभ करके [अकृता अपि] न करने परभी [फलति] फल देती है. सारांश [हिंसा] हिंसा [अनुभावेन] कषायभावोंके अनुसार ही [फलति] फल देती है।

भावार्थ—किसीने हिंसा करनेका विचार किया परन्तु अवसर न मिलनेसे उस हिंसाके करनेके पहिले ही उन कषाय परिणामोकेद्वारा (जिनसे हिंसाका संकल्प किया गया था) बंधे हुए कर्मोंका फल उदयमें आगया, पश्चात् इच्छित हिंसा करनेको समर्थ होसका ऐसी अवस्थामें हिंसा करनेसे पहिले ही उस हिंसाका फल भोग लिया जाता है। इसी प्रकार किसीने हिंसा करनेका विचार किया और इस विचार द्वारा बांधे हुए कर्मोंके फलको उदयमें आनेकी अवधि तक वह उक्त हिंसा करनेको समर्थ हो सका तो ऐसी दशामें हिंसा-करते समय ही उसका फल भोगना सिद्ध होता है। किसीने सामान्यतः हिंसा करके पश्चात् उसका उदय कालमें फल पाया अर्थात् कर चुकनेपर फल पाया। किसीने हिंसा करनेका आरम्भ किया था, परन्तु किसी कारण हिंसा करनेमें शक्तिवान् नहीं होसका, तथापि आरंभजनितबंधका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा; अर्थात् न करनेपर भी हिंसाका फल भोगा जाता है। प्रयोजन केवल इतना ही है कि, कषायभावोंके अनुसार फल मिलता है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः॥ ५५॥

अन्वयार्थौ—[एकः] एक पुरुष [हिंसाम्] हिंसाको [करोति] करता है परन्तु [फलभागिनो] फल भोगनेके भागी [बहवः] बहुत [भवन्ति] होते हैं, इसी

प्रकार [हिंसाम्] हिंसाको [बहवः] बहुत जन [विदधति] करते हैं परन्तु [हिंसा-फलभुक्] हिंसाके फलका भोक्ता [एकः] एक पुरुष [भवति] होता है।

भावार्थ—किसी जीवको मारते देखकर अन्य देखनेवाले जो अच्छा कहते व प्रसन्न होते हैं वे सब ही हिंसाफलके भागी होते हैं. इसीसे कहते हैं कि, एक करता है और फल अनेक भोगते हैं तथा इसीप्रकार संग्राममें हिंसा तो अनेक पुरुष करते हैं. परन्तु उनका आदेशक राजा उस सब हिंसाके फलका भागी होता है अर्थात् अनेक करते हैं और फल एक भोगता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थौ—[कस्यापि] किसी पुरुषको तो [हिंसा] हिंसा [फलकाले] उदय कालमें [एकमेव] एक ही [हिंसाफलम्] हिंसाके फलको [दिशति] देती है और [अन्यस्य] किसी पुरुषको [सैव] वही [हिंसा] हिंसा [विपुलम्] बहुतसे [अ-हिंसाफलम्] अहिंसाके फलको [दिशति] देती है।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसा फलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थौ—[तु अपरस्य] और किसी को [अहिंसा] अहिंसा [परिणामे] उदयकालमें [हिंसाफलम्] हिंसाके फलको [ददाति] देती है [तु पुनः] तथा [इतरस्य] अन्य किसीको [हिंसा] हिंसा [अहिंसाफलम्] अहिंसाके फलको [दिशति] देती है, [अन्यत् न] अन्यफलको नहीं।

भावार्थ—कोई जीव किसी जीवके बुरा करनेका यत्न कर रहा हो, परन्तु उस (जीव) के पुण्यसे कदाचित् बुरेकी जगह भला हो जावे, तौ भी बुराईका यत्न करनेवाला बुराईके फलका भागी होवेगा. इसीप्रकार कोई वैद्य नीरोग करनेके अर्थ किसी रोगीकी औषधि कर रहाहो और वह रोगी कदाचित् कारणवश मर जावे तौ वैद्य अहिंसाके ही फलको भोगेगा।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थौ—[इति] इसप्रकार [सुदुस्तरे] अत्यन्त कठिन [विविधभङ्गगहने] नाना प्रकारभंगरूप गहन वनमें [मार्गमूढदृष्टीनाम्] मार्गमूढदृष्टीपुरुषोंको अर्थात् मार्गभूले हुए पुरुषोंको [प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः] अनेक प्रकारके नयसमूहको जाननेवाले [गुरवः] श्रीगुरू ही [शरणम्] शरण [भवन्ति] होते हैं।

भावार्थ—हिंसाके अनेक भेदोंको वे ही गुरु समझा सक्ते हैं जो नयचक्रके अच्छे ज्ञाता हैं.

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थौ—[**जिनवरस्य**] जिनेन्द्र भगवानका [**अत्यन्तनिशितधारं**] अत्यन्त तीक्ष्णधारवाला और [**दुराशदम्**] दुस्साध्य [**नयचक्रम्**] नयचक्र [**धार्यमाणं**] धारण करनेवाले [**दुर्विदग्धानाम्**] अज्ञानी पुरुषोंके [**मूर्धानम्**] मस्तकोंको [**झटिति**] शीघ्र ही [**खंडयति**] खंडन करता है ।

भावार्थ—जैनमतके नयभेद समझना बहुत कठिन हैं जो कोई मूढ़पुरुष विना समझे नयचक्रमें प्रवेश करते हैं वे लाभके बदले हानि उठाते हैं ।

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥ ६० ॥

अन्वयार्थौ—[**नित्यम्**] निरन्तर [**अवगूहमानैः**] संवरमें उद्यमवान् पुरुषोंको [**तत्त्वेन**] यथार्थतासे [**हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि**] हिंस्य[1], हिंसक[2], हिंसा[3] और हिंसाके[4] फलोंको [**अवबुध्य**] जानकर [**निजशक्त्या**] अपनी शक्त्यनुसार [**हिंसा**] हिंसा [**त्यज्यतां**] छोड़ना चाहिये ।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थौ—[**हिंसाव्युपरतिकामैः**] हिंसात्याग करनेकी कामनावाले पुरुषोंकरके [**प्रथममेव**] प्रथम ही [**यत्नेन**] यत्नपूर्वक [**मद्यं**] शराब [**मांसं**] मांस [**क्षौद्रं**] शहद और [**पंचोदुम्बरफलानि**] ऊमर, कठूमर पीपर, वड़, पाकर ये पांचों उदुम्बर फल [**मोक्तव्यानि**] छोड़ देने योग्य हैं ।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थौ—[**मद्यम्**] मदिरा अर्थात् शराब [**मनो मोहयति**] मनको मोहित करती है [**तु**] और [**मोहितचित्तः**] मोहितचित्त पुरुष [**धर्मम्**] धर्मको [**विस्मरति**]

---

१ **हिंस्य**—जिनकी हिंसा की जावे ऐसे अपने अथवा परजीवके द्रव्यप्राण और भावप्राण अथवा एकेन्द्रियादिक जीवसमास.

२ **हिंसक**—हिंसा करनेवाला जीव.

३ **हिंसा**—हिंस्यके प्राणपीड़नकी अथवा प्राणघातकी क्रिया.

४ **हिंसाफल**—हिंसासे प्राप्त होनेवाले नरकनिगोदादिक फल.

भूल जाता है तथा [विस्मृतधर्मा] धर्मको भूला हुआ [जीवः] जीव [अविशङ्कम्] निडर होकर [हिंसाम्] हिंसाको [आचरति] आचरण करता है अर्थात् वेधड़क हिंसा करने लगता है।

रसजानां च वहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [मद्यम्] मदिरा [वहूनाम्] वहुतसे [रसजानाम्] रससे उत्पन्न हुए जीवोंकी [योनिः] योनि [इष्यते] कही जाती है, इसकारण जो [मद्यं] मदिराको [भजताम्] सेवन करते हैं उनके [तेषाम्] उन जीवोंकी [हिंसा] हिंसा [अवश्यम्] अवश्यही [संजायते] होती है।

भावार्थ—मदिरा निरन्तर जीवमय रहती है, उसके पानसे उन जीवोंका भी पान होता है. अतएव मदिरामें हिंसा होना अनिवार्य है।

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्य्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः] घमण्ड, डर, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि [हिंसायाः] हिंसाके [पर्य्यायाः] पर्याय व भेद हैं और [सर्व्वेऽपि] ये सव ही [सरकसन्निहिता] मदिराके निकटवर्त्ती हैं।

भावार्थ—एक मदिराके पान करनेसे जितने भाव उत्पन्न होते हैं वे सव हिंसाकेही भेद हैं सुतरां मदिरा पानसे अभिमानादिक सव ही भाव होते हैं।

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थौ—[यस्मात्] क्योंकि [प्राणविघातात् विना] प्राणोंके घात किये विना [मांसस्य] मांसकी [उत्पत्तिः] उत्पत्ति [न] नहीं [इष्यते] कही जाती [तस्मात्] इसकारण [मांसं भजतः] मांसभक्षी पुरुषके [अनिवारिता] अनिवार्य [हिंसा] हिंसा [प्रसरति] फैलती है।

भावार्थ—मांस जीवके शरीरका एक भाग है जो शरीरको छोड़ अन्यत्र नहीं पाया जाता और शरीरका जव घात किया जाता है, तव ही उसकी प्राप्ति होती है अतएव सिद्ध है कि घातके विना मांस नहीं मिलता।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थौ—[यदपि] यद्यपि [किल] प्रगटमें [स्वयमेव] आपसे ही [मृतस्य]

मरे हुऐ [महिषवृषभादेः] भैंस वैलादिकोंका [मांसम्] मांस [भवति] होता है, किन्तु [तत्रापि] वहां भी अर्थात् उक्त मांसके भक्षणमें भी [तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्] उस मांसके आश्रितरहनेवाले तज्जातीय जीवोंके मथनसे [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

भावार्थ—मरे हुए जीवके मांसमें जिस जीवका कि वह मांस है उसी जातिके अनन्त जीव रहते हैं, इसलिये उसके खानेमें उन जीवोंका घात होनेसे हिंसा होती ही है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थौ—[आमासु] विनापकी, [पक्वासु] पकी हुईं, [अपि] तथा [विपच्यमानासु] पकती हुईं [अपि] भी [मांसपेशीषु] मांसकी डलियोंमें [तज्जातीनाम्] उसी जातिके [निगोतानाम्] सम्मूर्छन जीवोंका [सातत्येन] निरन्तरही [उत्पादः] उत्पाद होता रहता है।

भावार्थ—मांसकी डलियें सर्व अवस्थाओंमें उस ही मांसरूप नये २ अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति भूमि होती रहती हैं।

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीं।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो जीव [आमां] कच्ची [वा] अथवा [पक्वां] आगमें पकी हुई [पिशितपेशीं] मांसकी डलीको [खादति] भक्षण करता है [वा] अथवा [स्पृशति] छूता है [सः] वह पुरुष [सततनिचितम्] निरन्तर एकत्रित किये हुए [बहुजीवकोटीनाम्] अनेक जातिके जीवसमूहके [पिण्डम्] पिण्डको [निहन्ति] हनता है।

मधु शकलमपिप्रायो मधुकरहिंसात्मको भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तं ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थौ—[लोके] इस लोकमें [मधुशकलमपि] मधुका कण भी [मधुकरहिंसात्मकं] मक्खियोंकी हिंसारूप [भवति] होता हैं, अतएव [यः] जो [मूढधीकः] मूर्खवुद्धि पुरुष [भजति] शहदका भक्षण करता है [सः] वह [अत्यन्तं हिंसकः] अत्यन्त हिंसाका करनेवाला होता है।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥ ७० ॥

अन्वयार्थौ—और [यः] जो [मधुगोलात्] मधुके छत्तेसे [छलेन] कपटसे [वा] अथवा [स्वयमेव विगलितं] मक्खियोंद्वारा स्वयमेव उगली हुई [गृह्णीयात्] ग्रहण कीजाती है [तत्रापि] वहां भी [तदाश्रयप्राणिनां] उसके आश्रयभूत प्राणियोंके [घातात्] घातसे [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थौ—[मधु मद्यम्] शहद, मदिरा [नवनीतम्] मक्खन [च] और [पिशितं] मांस [महाविकृतयः] महा विकारोंको धारण किये हुए [ताः] ये चारों पदार्थ [व्रतिना] व्रती पुरुष करके [न वल्भ्यन्ते] भक्षण करने योग्य नहीं है क्योंकि [तत्र] उन वस्तुओंमें [तद्वर्णा] उसही जातिके [जन्तवः] जीव होते हैं ।

भावार्थ—मधुमें मधुके मदिरामें मदिराके मक्खनमें मक्खनके और मांसमें मांसके रंगके जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो कि दृष्टिगोचर नहीं होते. इसकारण इन वस्तुओंको खाना उचित नहीं है. विकारयुक्त वस्तुओंसे चर्मस्पर्शित घीव, तैल, जल, तथा अचार, संधाणा, विष, माटी. आदि और भी जानना ।

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषाम् तद्भक्षणे हिंसा ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थौ—[उदुंबरयुग्मम्] ऊमर, कठूमर [प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि] पिलकर, वड़ और पीपलके फल [त्रसजीवानाम्] त्रस जीवोंकी [योनिः] योनि हैं [तस्मात्] इसकारण [तद्भक्षणे] उनके भक्षणमें [तेषाम्] उन त्रस जीवोंकी [हिंसा] हिंसा होती है ।

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थौ—[तु पुनः] और फिर भी [यानि] जो पांच उदंबर [शुष्काणि] सूखे हुए [कालोच्छिन्नत्रसाणि] काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित [भवेयुः] हो जावें तो [तान्यपि] उनको भी [भजतः] भक्षण करनेवालेके [विशिष्टरागादिरूपा] विशेषरागादिरूप [हिंसा] हिंसा [स्यात्] होती है ।

भावार्थ—जो पुरुष ऐसे निंद्य पदार्थोंको सुखाकर खावेगा उसके रागभावोंकी विशेषता अवश्य ही होवेगी क्योंकि, ये पदार्थ रागकी अधिकताके विना गेंहू चना आदिक अन्नोंके समान साहजिक प्रवृत्तिसे नहीं सुखाये जाते, अतएव इन फलोंको सुखाकर त्रस जीव नहीं रहें ऐसा वहाना बनाकर कभी भक्षण नहीं करना चाहिये, क्योंकि त्रसजीवोंकी विराधनासे अधिक हिंसा होती है ।

---

१ किसी २ प्रतिमें यह एक श्लोक और भी पाया जाता है, परन्तु टोडरमलजीने इसका अर्थ नहीं लिखा.

मधु सकलमपि प्रायो मोक्तव्यं शुद्धबुद्धिभिः सततम् ।
वस्तुनि मधुवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥

२ तु शब्द पूर्वोक्त अर्थसे विभेद द्योतन करता है.

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थौ—[अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि] दुःखदायक दुस्तर और पापोंके स्थान [अमूनि] इन [अष्टौ] आठ पदार्थोंको [परिवर्ज्य] परित्यागकरके [शुद्धधियः] निर्म्मलबुद्धिवाले पुरुष [जिनधर्मदेशनायाः] जिनधर्मके उपदेशके [पात्राणि] पात्र [भवन्ति] होते हैं ।

भावार्थ—मद्य, मांस, मधु और पांच उदंवर फल ये आठों पदार्थ महापापके कारण हैं, इसकारण इनका त्याग करने पर ही पुरुष किसी उपदेशके सुननेके योग्य पात्र होता है, अर्थात् इनके त्यागके विना श्रावक नहीं हो सक्ता, इसीकारण इनके त्यागको अष्टमूलगुण माना है.

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसा तेपि मुञ्चन्तु ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो जीव [अहिंसारूपम्] अहिंसारूपी [धर्मम्] धर्मको [संशृण्वन्तः अपि] श्रवण करके भी [स्थावरहिंसाम्] स्थावर जीवोंकी हिंसाके [परित्यक्तुम्] छोडनेको [असहाः] असमर्थ हैं [तेऽपि] वे भी [त्रसहिंसां] त्रस जीवोंकी हिंसा [मुञ्चन्तु] छोडें ।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादकी त्वेषा ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थौ—[औत्सर्गिकी निवृत्तिः] उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् त्याग [कृतकारितानुमननैः] कृतकारितअनुमोदनारूप [वाक्कायमनोभिः] मनवचनकायकरके [नवधा] नवप्रकारकी [इष्यते] कही है और [एषा] यह [अपवादकी] अपवादरूप निवृत्ति [तु] तौ [विचित्ररूपा] अनेकरूप है ।

भावार्थ—साधारणतः सर्वथा त्यागको उत्सर्गत्याग कहते हैं. यह ९ प्रकारका होता है मनसे वचनसे वा कायसे आप न करना, दूसरेसे न कराना और करनेवालेको भला नहीं समझना; इन नौ भेदोंमेंसे किसी भेदका, थोड़ा बहुत किसी प्रकारसे त्याग करनेको अपवाद त्याग कहते हैं. इसके बहुत भेद हैं ।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थौ—[सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्] इन्द्रियोंके विषयोंकी न्यायपूर्वक सेवा करनेवाले [गृहिणाम्] श्रावकोंको [स्तोकैकेन्द्रियघातात्] अल्प एकेन्द्रिय घातके अतिरिक्त

[शेषस्थावरमारणविरमणमपि] अवशेष स्थावर (एकेन्द्री) जीवोंके मारनेका त्याग भी [करणीयम्] अवश्यमेव करने योग्य [भवति] होता है।

भावार्थ—गृहस्थसे एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं होसक्ता है, इसलिये यदि योग्य रीतिसे कार्य करतेहुए एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होती है तो होओ, परन्तु इसके अतिरिक्त व्यर्थ और असावधानीसे कार्य करनेमें जो एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होती है उसका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये।

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यं ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थौ—[अमृतत्वहेतुभूतं] अमृतत्व अर्थात् मोक्षके कारणभूत [परमं] उत्कृष्ट [अहिंसारसायणं] अहिंसारूपी रसायणको [लब्ध्वा] प्राप्तकरके [बालिशानां] अज्ञानी जीवोंके [असमञ्जसं] असङ्गत वर्तावको [अवलोक्य] देखकर [आकुलैः] व्याकुल [न भवितव्यं] नहीं होना चाहिये।

भावार्थ—किसी जीवको हिंसाकरते हुए सुखसातायुक्त देखकर और आपको अहिंसाधर्म पालते हुए भी दुःखी जानकर अथवा आपको अहिंसा धर्म साधते देख व अन्य मिथ्यादृष्टियोंको हिंसामें धर्म ठहराते हुए व पुष्टकरते हुए देखकर धर्मात्मापुरुषोंको चलायमान न होना चाहिये।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थौ—[भगवद्धर्मः] परमेश्वरकथित धर्म अथवा ज्ञानसहितधर्म [सूक्ष्मः] बहुत बारीक है, अतएव [धर्मार्थं] "धर्मके निमित्त [हिंसने] हिंसाकरनेमें [दोषः] दोष [नास्ति] नहीं है" [इति धर्ममुग्धहृदयैः] ऐसे धर्ममें मूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हुए

---

१ त्रसस्थावरस्वरूपकथनम्:—
संसारी जीव दो प्रकारके हैं एक त्रस दूसरे स्थावर. केवल एक स्पर्शन इन्द्रियवाले एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं और द्वीन्द्रियादिक पंचेन्द्रीपर्यन्त जीवोंको त्रस कहते हैं. स्थावर जीवोंके १ पृथ्वीकाय. २ जलकाय, ३ वनस्पतिकाय; ४ अग्निकाय, ५ वायुकाय, ये ५ भेद हैं, और त्रस जीवोंके १ द्वीन्द्रिय, २ त्रीन्द्रिय, ३ चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये ४ भेद हैं, जो स्पर्श और रसना (जीभ) युक्त हों जैसे लट कौड़ो गिड़ोला उन्हें द्वीन्द्रिय. जो स्पर्शन, रसना. घ्राण (नाक) युक्त हों जैसे कीड़ी मकोड़ी कानखजूरा उन्हें तेइन्द्रिय. जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र युक्त हों जैसे भ्रमर पतंगादि उन्हें चतुरिन्द्रिय. और जो कानसंयुक्त हों जैसे मनुष्य, देव, पशु पक्षी आदि उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं। पुनः पंचेन्द्रियके सैनी और असैनी ये दो भेद हैं. जिन पंचेन्द्रिय जीवोंके मन पाया जाता है उन्हें सैनी और जिनके मन नहीं पाया जाता उन्हें असैनी कहते हैं. सैनी पंचेन्द्रिय चार प्रकारके हैं, देव, मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च. इनमेंसे देवोंके, भवनवासी, ज्योतिषी, कल्पवासी, व्यन्तर ये ४ भेद. मनुष्योंमें आर्य और म्लेच्छ दो भेद. नारकियोंके भूमिकी अपेक्षा सातभेद और तिर्यञ्चोंके जलचर, थलचर और नभचर ये तीन भेद हैं।

हृदय सहित [भूत्वा] हो करके [जातु] कदाचित् [शरीरिणः] शरीरधारी जीव [न हिंस्याः] नहीं मारना चाहिये।

भावार्थ—जहां हिंसा है वहां धर्म कदापि नहीं हो सक्ता, अतएव धर्मात्मा पुरुषोंको इस प्रकारके धोखेमें नहीं आना चाहिये कि, धर्मके निमित्त यज्ञ सम्बधी हिंसा करनेमें पाप नहीं है. यदि यहांपर कोई यह प्रश्न करै कि, जैनधर्ममें भी तो मन्दिर बनवाना व प्रतिष्ठा कराना कहा गया है, जिसमें धर्मके निमित्त विपुल हिंसा होती है सो क्या इन मन्दिरादि कार्योंमें धर्म नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि, यदि ये कार्य केवल मान-बड़ाईके लिये यत्नाचाररहित लापरवाहीसे किये जावें तो कदापि शुभबंधके कारण नहीं हो सक्ते, परन्तु धर्मबुद्धिसे यत्नपूर्वक किये जावें तो अधिक शुभबंधके कर्त्ता होते हैं. यद्यपि उक्त कार्योंमें आरंभजनित हिंसा होती है, परन्तु वह (हिंसा) धर्मानुरागपूर्वक बंधे हुए शुभ बंधकी (पुण्यकी) ओर देखनेसे कुछ पासङ्गमें भी नही आ सक्ती. इसके अतिरिक्त उक्त कार्योंमे अपना द्रव्यव्यय करनेसे लोभकषायरूप अन्तरङ्गहिंसाका त्याग होता है तथा एक बड़ा भारी लाभ और भी होता है वह यह है कि, मन्दिरादिक कार्योंमें लगाये हुए इस धनने विषयकषायादिकसेवनमें न लगकर महत्पापोंसे दूर रखके सुकृतकी प्रवृत्ति की है; अतएव सिद्ध है कि, मन्दिरप्रतिष्ठादिक कार्य उत्कृष्ट धर्म कार्य हैं, परन्तु धर्म निमित्तक यज्ञादिकमें पशु हवनादिकी क्रिया उद्यमीहिंसा होनेसे सर्वथा त्याज्य हैं. ऐसी सामान्यतया आज्ञा है।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥ ८०॥

अन्वयार्थौ—(हि) "निश्चय करके [धर्मः] धर्म [देवताभ्यः] देवताओंसे [प्रभवति] उत्पन्न होता है. अतएव [इह] इस लोकमें [ताभ्यः] उनके लिये [सर्वं] सब ही [प्रदेयम्] दे देना योग्य है" [इति दुर्विवेककलितां] ऐसे अविवेकसे गृहीत [धिषणां] बुद्धिको [प्राप्य] पाकरके [देहिनः] शरीरधारीजीव [न हिंस्याः] नहीं मारना चाहिये।

भावार्थ—देवताओंकेलिये भी किसी कारणसे प्राणिघात न करना चाहिये, कोई २ मूर्ख कहा करते हैं कि, धर्मके कर्त्ता जब देवता ही हैं, तो उन्हें मांसादिका बलि जो चाहे सो देना अयोग्य नहीं है; सो यह कथन अविवेकसे भरा हुआ है. मान्य न करना चाहिये।

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥ ८१॥

---

१ "अतिथिके सत्कारार्थं बकरी वा बैल जो उत्तम जीव घरमें होवे उसके घात करनेमें कोई पाप नहीं है" ऐसा स्मृतिकारोंका मत है।

अन्वयार्थौ—[पूज्यनिमित्तं] "पूजने योग्य पुरुषोंके लिये [छागादीनां] वकरा आदिक जीवोंके [घाते] घात करनेमें [कः अपि] कोई भी [दोषः] दोष [नास्ति] नहीं है" [इति] ऐसा [संप्रधार्य] विचार करके [अतिथये] अतिथि व शिष्ट पुरुषोंके-लिये [सत्त्वसंज्ञपनं] जीवोंका घात [न कार्यम्] करना योग्य नहीं है।

भावार्थ—पुरोडासादिमें शिष्टपुरुषोंकेलिये हिंसा करनेमें दोष नहीं है ऐसा कहना वड़ी भारी भूल है।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थौ—(बहुसत्त्वघातजनिताम्) "बहुत प्राणियोंके घातसे उत्पन्न हुए [अशनात्] भोजनसे [एकसत्त्वघातोत्थं] एक जीवके घातसे उत्पन्न हुआ भोजन [वरं] अच्छा है" [इति] ऐसा [आकलय्य] विचार करके [जातु] कदाचित् भी [महासत्त्वस्य] जङ्गम जीवका [हिंसनं] हिंसन [न कार्यं] नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—"अन्नादिकके आहारमें अनेक जीव मरते हैं, अतएव उनके वदले एक बड़े भारी जीवको मारकर खालेना अच्छा है" ऐसा कुतर्क करना भी मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि हिंसा प्राणघात करनेसे होती है और एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रीके द्रव्य-प्राण व भाव प्राण अधिक होते हैं ऐसा सिद्धान्तकारोंका मत है, इसलिये अनेक छोटे २ जीवोंसे भी बड़े प्राणीके घातमें अधिक हिंसा है, जब एकेन्द्रिय जीवके मारनेसे द्वीन्द्रिय जीवके मारनेमें ही असंख्यगुणा पाप है, तो पंचेन्द्रियकी हिंसाका तो कहना ही क्या है?

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थौ—[अस्य] "इस [एकस्यैव] एक ही [जीवहरणेन] जीवके मारनेसे [बहूनाम्] बहुतसे जीवोंकी [रक्षा भवति] रक्षा होती है" [इति मत्वा] ऐसामानकर [हिंस्रसत्त्वानाम्] हिंसक जीवोंका भी [हिंसनं] हिंसन अर्थात् शिकार [न कर्त्तव्यं] न करना चाहिये।

भावार्थ—"सर्प, विच्छू, सिंह, गैंडा, तेंदुआ आदिक हिंसक जीवोंको जो अनेक जीवोंके घातक हैं, मार डालनेसे उनके वध्य अनेक जीव वच जावेंगे और इससे पापकी अपेक्षा पुण्यवंध अवश्य होगा" ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिये. क्योंकि, हिंसा जो करता है वही उसके अशुभबंधका भागी होता है ऐसा शास्त्रसे सिद्ध है, फिर उसे मारकर हमको पापोपार्जन किसलिये करना चाहिये? दूसरे यह भी सोचना चाहिये कि, संसारमें जो अनन्त जीव एक दूसरेके घातक हैं उनकी चिन्ता हम कहां तक कर सक्ते हैं?

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापं।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थौ—[बहुसत्त्वघातिनः] "बहुत जीवोंके घाती [अमी] ये जीव [जीवन्त] जीते रहेंगे तो [गुरुपापं] अधिक पाप [उपार्जयन्ति] उपार्जन करेंगे" [इति] इस प्रकारकी [अनुकम्पां कृत्वा] दया करके [हिंस्राः शरीरिणः] हिंसक जीवोंको [न हिंसनीयाः] नहीं मारना चाहिये।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्॥
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥ ८५॥

अन्वयार्थौ—[तु] और [बहुदुःखासंज्ञपिताः] "अनेक दुःखोसे पीडित जीव [अचिरेणदुःखविच्छित्तिम्] शीघ्रही दुःखाभावको [प्रयान्ति] प्राप्त हो जावेंगे" [इति वासनाकृपाणीं] इस प्रकारकी वासना तर्कना रूपी तलवारको [आदाय] अङ्गीकार करके [दुःखिनोऽपि] दुःखी जीवभी [न हन्तव्याः] नही मारना चाहिये।

भावार्थ—रोग अथवा दारिद्रादि दुःखोंसे अतिशय दुःखी जीव यदि मारडाले जावेंगे तो तत्कालीन दुःखोंसे छूट जावेंगे, ऐसा मृषाश्रद्धान कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि, एक तो कोई जीव शरीरत्याग करनेसे दुःखसे नहीं छूट सक्ता, सुतरां उसके अशुभ कर्मोंका फल उसे भोगना ही पड़ेगा; चाहे इस शरीरसे भोगे चाहे दूसरे शरीरसे भोगे, दूसरेके घात करनेसे प्राणपीड़न होता ही है; जो घातकको और उस वध्यजीवको हिंसाजनित अशुभबन्धका कारण होगा।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥ ८६॥

अन्वयार्थौ—[सुखावाप्तिः] "सुखकी प्राप्ति [कृच्छ्रेण] कष्टसे होती है, इसलिये [हताः] मारे हुए [सुखिनः] सुखी जीव [सुखिनः एव] सुखी ही [भवन्ति] होवेंगे" [सुखिनां घाताय] सुखियोंके घातके लिये [इति] इस प्रकार [तर्कमण्डलाग्रः] कुतर्कका खड्ग [नादेयः] अंगीकार नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—उग्र तपश्चरणादि बड़े कष्टोंसे सुख प्राप्त होता है इसलिये सुख दुर्लभ है. जैसे सरकंडेके (मूंजके) वनमें आग लगा देनेसे वह फिर बहुत हरा हो जाता है इसी प्रकार जीव सुखमें मार डालनेसे विना ही कष्ट सुखको प्राप्त हो जाता है. ऐसा श्रद्धान भी कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि, सुखी सत्यधर्मके साधनसे होते हैं न कि इस प्रकार सुखमें मरने मारनेसे।

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता॥ ८७॥

अन्वयार्थौ—[सुधर्मं अभिलषिता] सत्य धर्मके अभिलाषी [शिष्येण] शिष्यके-द्वारा [भूयसः अभ्यासात्] अधिक अभ्याससे [उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य]

सुगति करनेमें कारणभूत समाधिका सार प्राप्त करनेवाले [स्वगुरोः] अपने गुरुका [शिरः] मस्तक [न कर्त्तनीयं] नहीं काटा जाना चाहिये ।

भावार्थ—गुरु महाराज अधिक कालतक अभ्यास करके अब समाधिमें मग्न हो रहे हैं. इस समयमें यदि ये प्राणान्त कर दिये जावें तो उच्चपद प्राप्तकर लेवेंगे; ऐसा मिथ्या श्रद्धान करके शिष्यको अपने गुरुका शिरच्छेदन करना अनुचित है, क्योंकि उन्होंने जो कुछ साधना की है उसका फल तो वे आगे पीछे आप ही पा लेवेंगे, शिरच्छेदन करनेवाला प्राणपीड़न जनित हिंसाका भागी होकर पापबंध करनेके अतिरिक्त और क्या पा लेगा?

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयतां ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानां ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थौ—[धनलवपिपासितानां] थोड़ेसे धनके प्यासे और [विनेयविश्वासनाय दर्शयतां] शिष्योंको विश्वास उत्पन्न करनेके लिये नानाप्रकारकी रीतियां दिखलानेवाले [खारपटिकानां] खारपटिकोंके[1] [झटितिघटचटकमोक्षं] शीघ्रही घटके फूटनेसे चिड़ियाकी मोक्षके समान मोक्षको [नैव श्रद्धेयम्] श्रद्धानमें नहीं लाना चाहिये ।

भावार्थ—खारपटिकोंके समान मोक्षमान करके किसी अन्य जीवका तथा अपना प्राणघात नहीं कर डालना चाहिये. क्योंकि खारपटिक शरीरके छूटजानेको ही मोक्ष मानते हैं, और इस मूर्ख बुद्धिसे वे जो २ दुष्कृत्य न कर डालें सो थोड़े हैं ।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [अशनाय] भोजनार्थ [पुरस्तात्] सन्मुख [आयान्तं] आये हुए [अपरं] अन्य [क्षामकुक्षिं] दुर्बल उदरवाले अर्थात् भूखे पुरुषको [दृष्ट्वा] देख करके [निजमांसदानरभसात्] अपने शरीरका मांस देनेकी शीघ्रतासे [आत्मापि] अपनेको भी [न आलभनीयः] नहीं घातना चाहिये ।

भावार्थ—यदि कोई मांसभक्षी जीव आकर भोजनके लिये याचना करै; तो उसको दया करके स्वशरीरके मन्दमोहसे अपने शरीरका मांस देकर अपनी आत्माको दुखी नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक तो मांसभक्षी जीव दानका पात्र ही नहीं है, दूसरे मांसका दान शास्त्रसे तथा धर्मसे वहिर्भूत और निंद्य है, तीसरे "आत्मघाती महापापी,, यह युक्ति जगत्प्रसिद्ध है ।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥ ९० ॥

---

१ श्रीमदमृतचन्द्रसूरि (ग्रन्थकर्ता) के समयमें 'खारपटिक, नामक एक मतविशेष (मजहब) भारतवर्षमें प्रचलित था, जिसमें मोक्षका स्वरूप एक विलक्षण प्रकारसे माना जाता था अर्थात् इसके अनुयायी समझते थे कि, जैसे घड़ेमें कैद कीहुई चिड़िया घड़ेके फूट जानेसे मुक्त हो जाती है उसी प्रकार शरीर छूट जानेसे जीव मुक्त हो जाता है. खारपटिकमतके अनुयायी अब भारतमें दिखाई नहीं देते ।

अन्वयार्थौ—[नयभङ्गविशारदान्] नयभङ्गोंके जाननेमें प्रवीण [गुरून्] गुरुओं की [उपास्य] उपासना करके [विदितजिनमतरहस्यः] जिनमतके रहस्योंका जाननेवाला [को नाम] कौन सा [विशुद्धमतिः] निर्म्मल बुद्धिधारी [अहिंसां श्रयन्] अहिंसाको धर्म जान अंगीकार करता हुआ पूर्वोक्त मतोंमें [मोहं] मूढ़ताको [विशति] प्राप्त होगा?

भावार्थ—जो पुरुष अहिंसाधर्मको जान गया है वह उपर्युक्त कुतर्कियोंके मिथ्यामतोंमें कदापि काल श्रद्धान नहीं कर सक्ता।

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो [किमपि] कुछभी [प्रमादयोगात्] प्रमादकषायके योगसे [इदं] यह [असदभिधानं] स्वपरको हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन [विधीयते] विधिरूप किया जाता अर्थात् कहा जाता है [तत्] उसे [अनृतमपि] निश्चयकर अनृत [विज्ञेयं] जानना चाहिये और [तत्] उसके [चत्वारः] चार [भेदाः] भेद [सन्ति] होते हैं।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निपिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थौ—[यस्मिन्] जिसवचनमें [स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः] अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकरके [सदपि] विद्यमान भी [वस्तु] वस्तु [निपिद्ध्यते] निषेधित की जाती है [तत्] वह [प्रथमं] प्रथम [असत्यं] असत्य [स्यात्] होता है. [यथा] जैसे [अत्र] "यहां [देवदत्तः] देवदत्त [नास्ति] नहीं है"।

भावार्थ—देवदत्त नामक कोई पुरुष एकस्थानमें बैठा था. उसके विषयमें किसी पुरुषने वहां आकर पूछा कि, देवदत्त है? उत्तर दिया गया कि, नहीं है! इस प्रकार अपने द्रव्य[3], क्षेत्र[4], काल[5], भावसे[6] अस्तिरूप (मौजूदा) वस्तुको नास्तिरूप (गैर मौजूदा) कहना असत्यका प्रथम भेद है।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥ ९३ ॥

१ नाम इति प्रसिद्धौ.

२ अपिशब्दः निश्चयात्मकश्च.

३ जो पदार्थ जिस रूपमें स्थित है. सद्द्रव्यलक्षणमिति तत्वार्थे.

४ द्रव्य जिस क्षेत्रको रोककर स्थित हो.

५ द्रव्य जिस कालमें जिस रूपसे परिणमै.

६ द्रव्यका निजभाव.

७ इस उदाहरणमें देवदत्त अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टय सहित होनेपर भी नास्तिरूप कहा गया है अतएव असत्य भाषण हुआ.

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चयकर [यत्र] जिस वचनमें [तैः परक्षेत्रकालभावैः] उन पर द्रव्यक्षेत्र काल भावों करके [असदपि] अविद्यमान भी [वस्तुरूपं] वस्तुका स्वरूप [उद्भाव्यते] प्रगट किया जाता है [तत्] वह [द्वितीयं] दूसरा [अनृतं] असत्य [स्यात्] होता है. [यथा] जैसे [अस्मिन्] यहांपर [घटः अस्ति] घड़ा है.

भावार्थ—जहांपर घड़ाके द्रव्य क्षेत्र काल भावका अस्तित्व नहीं है वहांपर किसीके पूछनेपर कह देना कि, यहां घड़ा है? यही असत्यका दूसरा भेद है।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [यस्मिन्] जिस वचनमें [स्वरूपात्] अपने चतुष्टयसे [सदपि] विद्यमान भी [वस्तु] पदार्थ [पररूपेण] अन्यके स्वरूपसे [अभिधीयते] कहा जाता है सो [इदं] यह [तृतीयं अनृतं] तीसरा असत्य [विज्ञेयं] जानना चाहिये. [यथा] जैसे [गौः] वैलको [अश्वः] घोड़ा है [इति] ऐसा कहना ।

भावार्थ—जहांपर वैल स्वचतुष्टयसे मौजूद है वहांपर कह देना कि, यहां घोड़ा है अर्थात् कुछका कुछ कह देना यह असत्यका तीसरा भेद है ।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थौ—[तु] और [इदं] यह [तुरीयं] चौथा [अनृतं] असत्य [सामान्येन] सामान्यरूपसे [गर्हितं] १ गर्हित, [अवद्यसंयुतं] २ सावद्य अर्थात् पापसहित [अपि] और [अप्रियं] ३ अप्रिय [त्रेधा] तीन प्रकार [मतं] माना गया है [यत्] जो कि [वचनरूपं] वचनरूप [भवति] होता है ।

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थौ—[पैशून्यहासगर्भं] दुष्टता अथवा चुगलीरूप, हास्ययुक्त [कर्कशं] कठोर, [असमञ्जसं] मिथ्याश्रद्धानपूर्ण, [प्रलपितं] प्रलापरूप (गप्पशप्प) तथा [अन्यदपि] और भी [यत्] जो [उत्सूत्रं] शास्त्र विरुद्ध वचन हैं [तत्सर्वं] वे सब [गर्हितं] गर्हित अर्थात् निंद्यवचन [गदितं] कहे गये हैं ।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्य्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो [छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्य्यवचनादि] छेदने, भेदने, मारने, शोषणे अथवा व्यापार, चोरी आदिके वचन हैं [तत्] सो [सर्वं]

सब [सावद्यं] पापयुक्त वचन हैं [यस्मात्] क्योंकि [प्राणिवधाद्याः] प्राणिहिंसा आदिके पापोंकी [प्रवर्त्तन्ते] प्रवृत्ति करते हैं।

भावार्थ—'अवद्य' शब्दका अर्थ 'पाप' होता है और जो वचन पापसहित होता है उसे सावद्य कहते हैं।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो वचन [परस्य] दूसरे जीवके [अरतिकरं] अप्रीतिका करनेवाला, [भीतिकरं] भयका करनेवाला, [खेदकरं] खेदका करनेवाला [वैरशोककलहकरं] वैर शोक कलहका करनेवाला तथा [अपरमपि] और भी [तापकरं] आतापोंका करनेवाला होवे [तत्] वह [सर्वं] सब [अप्रियं] अप्रिय [ज्ञेयं] जानना।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जिस कारणसे [अस्मिन्] इन [सर्वस्मिन्नपि] सब ही वचनोंमें [प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं] प्रमादसहित योग ही एक हेतु कहा गया है [तस्मात्] इसलिये [अनृतवचने] असत्य वचनमें [अपि] भी [हिंसा] हिंसा [नियतं] निरन्तर [समवतरति] होती है।

भावार्थ—जहां कषाय है वहां ही हिंसा है और असत्यभाषण कषायसे ही होता है, अतएव असत्य वचनमें हिंसा अवश्य होती है।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥ १०० ॥

अन्वयार्थौ—[सकलवितथवचनानां] समस्त ही अनृतवचनोंका [प्रमत्तयोगे] प्रमादसहित योग [हेतौ] हेतु [निर्दिष्टे सति] निर्दिष्ट होनेसे [हेयानुष्ठानादेः] हेय उपादेयादि अनुष्ठानोंका [अनुवदनं] कहना [असत्यं] झूठ (न भवति) नहीं होता।

भावार्थ—अनृतवचनके त्यागी महामुनि हेयोपादेयके उपदेश वारंवार करते हैं, पुराण और कथाओंमें नाना प्रकार अलङ्कारगर्भित नवरसपूर्ण विषय वर्णन करते हैं, उनके पापनिंद्यक वचन पापी जीवोंको तीरसे अप्रिय लगते हैं, सैकडों जीव दुःखी होते हैं, परन्तु उन्हें असत्य भाषणका दोष नहीं लगता क्योंकि, उनके वचन कषाय प्रमादसे गर्भित नहीं है. इसीसे कहा है कि, प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषणका नाम ही अनृत है।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
येतेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो जीव [भोगोपभोगसाधनमात्रं] भोगोपभोगके साधन मात्र [सावद्यं] सावद्यवचनको [मोक्तुम्] छोड़नेको [अक्षमा] असमर्थ हैं [तेऽपि] वे भी [शेषं] शेष [समस्तमपि] समस्त ही [अनृतं] असत्यभाषण का [नित्यमेव] निरन्तर ही [मुञ्चन्तु] त्याग करैं।

भावार्थ—त्याग दो प्रकारका है, एक सर्वथात्याग दूसरा एकोदेशत्याग. जिसमेंसे सर्वथा समस्त प्रकारके अनृतोंका त्याग मुनि धर्ममें है और उसे मुनि अवश्य ही करते हैं, परन्तु गृहस्थ अपने सांसारिक प्रयोजन सावद्यवचनोंके विना नहीं चला सक्ता, इसलिये यदि गृहस्थ सावद्यवचनोंका त्याग न कर सकै तो न सही, परन्तु अन्य सव प्रकारके अनृत वचनोंके वोलनेका त्याग तो अवश्य ही कर्त्तव्य है।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥ १०२॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो [प्रमत्तयोगात्] प्रमाद कषायके योगसे [अवितीर्णस्य] विना वितरण किये हुए [परिग्रहस्य] सुवर्णवस्त्रादि परिग्रहका [ग्रहणं] ग्रहण करना है [तत्] उसे [स्तेयं] चोरी [प्रत्येयं] जानना चाहिये [च] और [सैव] वही [वधस्य] वधके [हेतुत्वात्] हेतुसे [हिंसा] हिंसा भी है।

भावार्थ—चोरी[1] करना भी हिंसा है, क्योंकि अन्य जीवके प्राण घात करनेके हेतुसे प्रमादका प्रादुर्भाव होते ही चोरी करनेवाले पुरुषके भावप्राणोंका घात होता है और चोरीके प्रगट होनेपर उसके द्रव्य प्राणोंका भी घात होता है. इसी प्रकार इष्टवस्तुकी वियोग-जनित पीड़ासे जिसकी चोरी हुई है, उस पुरुषके भावप्राणोंका घात होता है और चौर्य्य वस्तुके हरण होनेसे द्रव्यप्राणोंका घात भी संभव है, क्योंकि चोरीकी हुई वस्तु उसके द्रव्य प्राणोंकी पोषक थी।

अर्थानाम य एते प्राणा एते वहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥ १०३॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो [जनः] पुरुष [यस्य] जिस जीवके [अर्थान्] पदार्थोंको [हरति] हरण करता है [सः] वह पुरुष [तस्य] उस जीवके [प्राणान्] प्राणोंको [हरति] हरण करता है, क्योंकि जगतमें [यः] जो [एते] जितने [अर्थानाम] धनादिक पदार्थ प्रसिद्ध हैं; सो [एते] इन सव ही [पुंसां] पुरुषोंके [वहिश्चराः प्राणाः] वाह्य प्राण [सन्ति] हैं।

---

१ निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्नच दत्ते तदकृश चौर्य्यादुपारमणम्॥ ५७॥ (र० क० श्रा०)

अर्थात्—धरा हुआ, पड़ा हुआ, भूला हुआ, ऐसा दूसरेका विना दिया हुआ पदार्थ ग्रहण नहीं करना और न दूसरेको देना सो स्थूल चोरी त्यागव्रत है।

भावार्थ—संसारी जीवोंके जिस प्रकार जीवनके कारणभूत इन्द्रिय श्वासोच्छ्वासादि अन्तरप्राण हैं, उसीप्रकार धन धान्य सम्पदा वृषभ, घोटक, दास दासी, मन्दिर, पृथ्वी आदिक जितने पदार्थ पाये जाते हैं वे सब उनके जीवनके कारणभूत बाह्यप्राण हैं. सुतरां उनमेंसे एक भी पदार्थका वियोग होनेसे जीवोंको प्राणघातसदृश दुःख होता है. इसीसे कहते हैं, कि चोरी साक्षात हिंसा है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः॥ १०४॥

अन्वयार्थौ—[**हिंसायाः**] हिंसाके [**च**] और [**स्तेयस्य**] चोरीके [**अव्याप्तिः**] अव्याप्तिदोष [**न**] नहीं है [**सा सुघटाएव**] वह हिंसा सुघट ही है [**यस्मात्**] क्योंकि [**अन्यैः**] दूसरोंके द्वारा [**स्वीकृतस्य**] स्वीकृत किये [**द्रव्यस्य**] द्रव्यके [**ग्रहणे**] ग्रहण करनेमें [**प्रमत्तयोगः**] प्रमत्तका योग है।

भावार्थ—न्यायके प्रकरणमें कह चुके हैं, कि जो लक्षण पदार्थके एकदेशमें व्याप्त होवे दूसरेमें नहीं होवे, उसे अव्याप्ति कहते हैं. सो अव्याप्तिदोष "यत्र यत्र स्तेयं तत्र तत्र हिंसा" अर्थात् "जहां चोरी होती है वहां हिंसा अवश्य होती है" इस लक्षणमें नहीं आता है, सुतरां यह लक्षण पदार्थमें सर्वदेशव्याप्त है, क्योंकि प्रमादयोगके विना चोरी होती ही नहीं और जिसमें प्रमादयोग है वही हिंसा है।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्॥ १०५॥

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**नीरागाणाम्**] वीतराग पुरुषोंके [**प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्**] प्रमादयोगरूप एक कारणके विरोधसे [**कर्म्मानुग्रहणे**] द्रव्यकर्म नोकर्मकी कर्म वर्गणाओंके ग्रहण करनेमें [**अपि**] निश्चयकरके [**स्तेयस्य**] चोरीके [**अविद्यमानत्वात्**] उपस्थित न होनेसे [**तयोः**] उन दोनोंमें अर्थात् हिंसा और चोरीमें [**अतिव्याप्तिः**] अतिव्याप्ति भी [**न**] नहीं है।

भावार्थ—"अदत्तादानं स्तेयं, इस सूत्रके अनुसार विना दिये हुए पदार्थके ग्रहण करनेको चोरी कहते हैं इसलिये वीतरागसर्वज्ञको जिससमय कि वे द्रव्यनोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण करते हैं, उससमय चोरीका दोष लगना चाहिये क्योंकि, द्रव्यनोकर्म्मवर्गणाओंका ग्रहण अदत्तादान है और उपरिकथित रीतिसे जब अदत्तादान चोरी है, तो वीतरागदेव चोरीके भागी होनेसे हिंसक सिद्ध होवेंगे; परन्तु वीतरागदेव हिंसक नहीं हैं क्योंकि, मोहनीय कर्मके अभाव होनेसे कर्मवर्गणाओंके ग्रहण करनेमें प्रमत्तयोगरूप कारणका भी अभाव है, जिससे कि उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं लग सक्ता, क्योंकि चोरीका

लक्षण यथार्थमें इसप्रकार कहा है. "प्रमत्तयोगात् अदत्तादानं स्तेयं" अर्थात् "प्रमादके योगसे परद्रव्यका ग्रहण करना चौरी है"।

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्॥ १०६॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो लोग [निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं] परकीय जलाशयोंका जल आदि ग्रहण करनेका त्याग [कर्तुं] करनेको (असमर्थाः) असमर्थ हैं [तैः] उन्हें [अपि] भी [अपरं] अन्य [समस्तं] सम्पूर्ण [अदत्तं] विना दी हुई वस्तुओंका ग्रहण करना [परित्याज्यं] त्याग करना योग्य है।

भावार्थ—अदत्तवस्तुका त्याग दो प्रकार है. एक तो **सर्वथात्याग** जो मुनिधर्ममें पाया जाता है; दूसरा **एकोदेशत्याग** जो श्रावकधर्ममें वर्णन किया है. प्रत्येक पुरुषको चाहिये कि, जहांतक वन सके **सर्वथात्याग** करे, परन्तु यदि इसका पालन न होसके तो **एकोदेशत्याग** तो अवश्यही करै. **एकोदेशत्यागी** पुरुष दूसरेके कुए, तालावोंका जल तथा मृतकादि ऐसे पदार्थ जिनका कोई मूल्य नहीं है और जिन्हें अदत्त ग्रहण करनेसे संसारमें चौर नहीं कहा जाता ग्रहणकर सक्ता है, परन्तु **सर्वथात्यागी** पुरुष इन पदार्थोंको भी विना दिये ग्रहण नहीं कर सक्ता।

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥ १०७॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो [वेदरागयोगात्] वेदके रागरूप योगसे [मैथुनं] स्त्री-पुरुषोंका सहवास [अभिधीयते] किया जाता है [तत्] सो [अब्रह्म] अब्रह्म है और [तत्र] उस सहवासमें [वधस्य] प्राणीवधका [सर्वत्र] सब जगह [सद्भावात्] सद्भाव होनेसे [हिंसा] हिंसा [अवतरति] होती है।

भावार्थ—पुरुष स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हैं, इन तीनोंवेदोंकी राग भावरूप उत्तेजनासे मिथुन अर्थात् जोड़ेका सहवास होना अब्रह्म कहलाता है. अब्रह्ममें हिंसाका सब स्थानोंमें सद्भाव है; वल्कि यों कहना चाहिये कि, विना हिंसाके अब्रह्म होता ही नहीं है. अब्रह्ममें हिंसा कई प्रकारसे घटित होती है यथा—

१ स्त्रीके योनि, नाभि, कुच, कांख आदि स्थानोंमें सम्मूर्छन पञ्चेन्द्रिय जीव सर्वदा उत्पन्न होते रहते हैं और मैथुनमें उनके द्रव्यप्राणोंका घात अवश्य ही होता है.

---

१ आदिशब्दात् मृत्तिकादिपदार्थजातमपि ज्ञेयं।

२ मिथुनस्य कर्म मैथुनं।

३ चारित्रमोहकी वेद नामक प्रकृतिके उदयजन्य राग.

२ कामरूप परिणामोंके होनेसे दोनोंके (पुरुषस्त्रीके) भावप्राणोंका घात होता है तथा शरीरकी शिथिलतादिक निमित्तोंसे द्रव्यप्राणोंका भी घात होता है।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥ १०८॥

अन्वयार्थौ—[यद्वत्] जिस प्रकार [तिलनाल्यां] तिलोंकी नलीमें [तप्तायसि विनिहिते] तप्त लोहेके डालनेसे [तिलाः] तिल [हिंस्यन्ते] नष्ट होते हैं—भुनते हैं [तद्वत्] उसी प्रकार [मैथुने] मैथुन करनेसे [योनौ] योनिमें भी [बहवो जीवाः] बहुतसे जीव [हिंस्यन्ते] मरते हैं।

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितंत्रत्वात्॥ १०९॥

अन्वयार्थौ—और [अपि] इसके अतिरिक्त [मदनोद्रेकात्] कामकी उत्कटतासे [यत् किञ्चित्] जो कुछ [अनङ्गरमणादि] अनङ्गरमणादि[1] [क्रियते] किया जाता है [तत्रापि] उसमें भी [रागाद्युत्पत्तितंत्रत्वात्] रागादिकों की उत्पत्तिके वशसे [हिंसा] हिंसा [भवति] होती है।

भावार्थ—रागादिक भावोंकी तीव्रताके विना कामक्रीड़ाका होना असंभव है और जहां रागादिकोंकी अधिकता है वहां ही हिंसा है. अतएव अनङ्गक्रीडा भी हिंसा है।

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥ ११०॥

अन्वयार्थौ—[ये] जो जीव [मोहात्] मोहके कारण [निजकलत्रमात्रं] अपनी विवाहिता स्त्रीमात्रको [परिहर्तुं] छोड़नेको [हि] निश्चयकरके [न शक्नुवन्ति] समर्थ नहीं हैं [तैः] उन्हें [अपि] अवश्य ही [निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं] अवशेष अन्य स्त्रियोंका सेवन [न] नहीं [कार्यं] करना चाहिये[2]।

भावार्थ—अब्रह्मका त्याग भी **एकोदेशत्याग** और **सर्वदेशत्याग** रूप दो प्रकारका है. **सर्वदेशत्यागके** अधिकारी मुनि हैं, सो जहांतक हो सके **सर्वदेशत्याग** करना चाहिये और जो इतनी सामर्थ्य न हो तो **एकोदेशत्याग** रूप श्रावकधर्म तो अवश्य ही

---

१ सहवास करनेके योग्य अङ्गोंसे भिन्न अङ्गोंके द्वारा तथा तिर्यञ्चणीद्वारा जो कामक्रीड़ा की जाती है उसे अनङ्गक्रीड़ा कहते हैं।

२ न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचारे.)

अर्थात्—पापके भयसे परस्त्रीको प्राप्त न होना और दूसरोंको न जाने देना यह **परस्त्रीत्याग** अथवा **स्वदारसंतोष** व्रत है।

धारण करना चाहिये और उस श्रावकधर्ममें अपनी विवाहिताभार्याके अतिरिक्त वेश्या, दासी, परस्त्री, कुमारिकादिकोंका सर्वथा त्याग वर्णन किया है ।

या मूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः ।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥ १११ ॥

अन्वयार्थौ—[इयं] यह [या] जो [मूर्छानाम][1] मूर्छा है [एषः] इसको ही [हि] निश्चयकरके [परिग्रहः] परिग्रह [विज्ञातव्यः] जानना चाहिये[2] [तु] और [मोहोदयात्] मोहके उदयसे [उदीर्णः] उत्पन्न हुए [ममत्वपरिणामः] ममत्वरूप परिणाम भी [मूर्छा] मूर्छा हैं ।

भावार्थ—मोहके उदयसे भावोंका ममत्वरूप परिणमन होना मूर्छा है और मूर्छा ही परि[3]ग्रह है ।

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थौ—[परिग्रहत्वस्य] परिग्रहत्व[4]का [मूर्छालक्षणकरणात्] मूर्छालक्षण करनेसे [व्याप्तिः] व्याप्ति[5] [सुघटा] भले प्रकार घटित होती है क्योंकि, [शेषसङ्गेभ्यः] अन्यसम्पूर्ण संग अर्थात् परिग्रहके [विनापि] विना भी [मूर्छावान्] मूर्छाकरनेवाला पुरुष [किल] निश्चयकर [सग्रन्थः] बाह्यपरिग्रहसंयुक्त है ।

भावार्थ—यदि कोई पुरुष सर्वथा नग्न अर्थात् सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित हो, परन्तु उसके अन्तरंगमें मूर्छाका सद्भाव हो, तो वह परिग्रहवान् ही कहलावेगा, परिग्रह-रहित नहीं; क्योंकि "जहां २ मूर्छा होती है वहां २ परिग्रह अवश्य ही होता है" ऐसा नियम है. और परिग्रहके उक्तलक्षणमें अव्याप्ति दोषका प्रादुर्भाव नहीं हो सक्ता ।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरङ्गः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थौ—[यदि] यदि [एवं] ऐसा [भवति] होता अर्थात् मूर्छा ही परिग्रह होता, [तदा] तो [खलु] निश्चयकरके [बहिरङ्गः परिग्रहः] बाह्यपरिग्रह [कः अपि] कोई भी [न] न [भवति] होता? सो ऐसा नहीं है [यतः] क्योंकि [असौ] यह

---

१ नाम इति अव्ययं स्वीकारार्थे.

२ मूर्छापरिग्रह इति वचनात्.

३ यहां बाह्यपरिग्रह समझना चाहिये.

४ परिग्रहके भाव.

५ जहां लक्षण हो वहां लक्ष्य भी हो इस प्रकार साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं ।

बाह्यपरिग्रह [मूर्च्छानिमित्तत्वम्] मूर्छाके निमित्तपनेको [नितरां] निरन्तर [धत्ते] धारण किये है।

भावार्थ—"परिग्रहके अन्तरङ्गपरिग्रह और बहिरङ्गपरिग्रह ऐसे दो भेद किये गये हैं. सो यदि परिग्रहका लक्षण 'मूर्छा (इच्छा)' करोगे तो फिर बाह्यपदार्थोंमें परिग्रहत्व सिद्ध ही नहीं होगा क्योंकि, मूर्छालक्षण अन्तरंगपरिणामोंसे ही सम्बन्ध रखता है" ऐसा यदि कोई तर्क करे तो उसका समाधान यह है कि, मूर्छाकी उत्पत्तिमें बाह्य धनधान्यादि पदार्थ ही कारणभूत हैं, अतएव बाह्यपदार्थोंमें 'कारणमें कार्यके उपचारसे, परिग्रहत्व मुख्यतासे सिद्ध होता ही है और 'मूर्छापरिग्रहः' यह लक्षण भी अबाधित रहता है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति॥ ११४॥

अन्वयार्थौ—[एवं] इसप्रकार [परिग्रहस्य] बाह्य परिग्रहकी [अतिव्याप्तिः] अतिव्याप्ति [स्यात्] होती है [इति चेत्] ऐसा कदाचित् कहो तो [एवं] ऐसा [न] नहीं [भवेत्] हो सक्ता [यस्मात्] क्योंकि [अकषायाणां] कषायरहित अर्थात् वीतराग पुरुषोंके [कर्मग्रहणे] कार्माणवर्गणाके ग्रहणमें [मूर्छा] मूर्छा [नास्ति] नहीं है।

भावार्थ—"बाह्यपदार्थोंमें द्रव्यपरिग्रहत्व मानलेनेसे अतिव्याप्तिदोषका सद्भाव होता है (क्योंकि, उक्त लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्ष्यमें भी पाया जाता है) अर्थात् वीतरागी पुरुषोंके कार्माणवर्गणाके ग्रहणमें द्रव्य परिग्रहत्व सिद्ध होता है" ऐसा यदि कोई तर्कवादी प्रश्न करे तो कहना चाहिये कि, 'वीतराग पुरुषोंके कार्माणवर्गणाके ग्रहणमें सर्वथा ही मूर्छा नहीं है और "जहां २ मूर्छा नहीं है तहां २ परिग्रह नहीं है तथा जहां २ परिग्रह है वहां २ मूर्छा अवश्य है, इसप्रकार इसकी व्याप्ति होती है अतएव तुम्हारा दिया हुआ दोष निविष्ट नहीं हो सक्ता।"

अतिसंक्षेपाद्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु॥ ११५॥

अन्वयार्थौ—[सः] वह परिग्रह [अतिसंक्षेपात्] अत्यन्त संक्षिप्ततासे [आभ्यन्तरः] अन्तरङ्ग [च] और [बाह्यः] बहिरङ्ग [द्विविधः] दो प्रकार [भवेत्] होता है [च] और [प्रथमः] पहिला अन्तरङ्ग परिग्रह [चतुर्दशविधः] चौदह प्रकार [तु] तथा [द्वितीयः] दूसरा बहिरङ्ग परिग्रह [द्विविधः] दो प्रकार [भवति] होता है।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥ ११६॥

अन्वयार्थौ—[मिथ्यात्ववेदरागाः] मिथ्यात्व[1], स्त्री[2], पुरुष[3], और नपुंसक[4] वेदके राग [तथैव च] इसी प्रकार [हास्यादयः] हास्यादिक अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा[5] ये [षड्दोषाः] छह दोष [च] और [चत्वारः] चार अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलनी ये [कषायाः] कषायभाव इसप्रकार [आभ्यन्तराः ग्रन्थाः] अन्तरङ्गके परिग्रह [चतुर्दशाः] चौदह हैं।

अथ निश्चित्तसचित्तौ वाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः[6] कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्त्तते हिंसा ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थौ—[अथ] इसके अनन्तर [वाह्यस्य] वहिरङ्ग [परिग्रहस्य] परिग्रहके [निश्चित्तसचित्तौ] अचित्त[7] और सचित्त[8] ये [द्वौ] दो [भेदौ] भेद हैं. सुतरां [एषः] ये [सर्वः] समस्त [अपि] ही [सङ्गः] परिग्रह [कदापि] कदापिकाल [हिंसां] हिंसाको [न] नहीं [अतिवर्त्तते] उल्लङ्घन करते अर्थात् कोई भी परिग्रह किसी समय हिंसारहित नहीं है।

उभयपरिग्रहवर्ज्जनमाचार्य्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थौ—[जिनप्रवचनज्ञाः] जैनसिद्धान्तके ज्ञाता [आचार्य्याः] आचार्य गण [उभयपरिग्रहवर्ज्जनम्] दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागको [अहिंसा] अहिंसा [इति] ऐसे और [द्विविधपरिग्रहवहनं] दोनों प्रकारके परिग्रहके आचरणको [हिंसा इति] हिंसा ऐसा [सूचयन्ति] सूचन करते हैं।

हिंसापर्य्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
वहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम् ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थौ—[हिंसापर्य्यायत्वात्] हिंसाके पर्य्यायरूप होनेसे [अन्तरङ्गसङ्गेषु] अन्तरङ्ग परिग्रहमें [हिंसा] हिंसा [सिद्धा] स्वयंसिद्ध है, [तु] और [वहिरङ्गेषु]

---

१ तत्त्वार्थका अश्रद्धान.
२ पुरुषकी अभिलाषारूप परिणाम.
३ स्त्रीकी अभिलाषारूप परिणाम.
४ स्त्री पुरुष दोनोंकी अभिलाषारूप परिणाम.
५ ग्लानि.
६ नैष कदाचित्सङ्ग इत्यपि पाठः;
७ सुवर्ण, रजत, मन्दिर, वस्त्रादिक चेतनाहीन पदार्थ.
८ पुत्र, कलत्र, दासी दास, प्रमुख सचेतन पदार्थ.

बहिरङ्ग परिग्रहमें [मूर्छा] ममत्व परिणाम [एव] ही [हिंसात्वं] हिंसा भावको [नियतं] निश्चयसे [प्रयातु] प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—अन्तरङ्ग परिग्रहके जो चौदह भेद हैं वे सब ही हिंसाके पर्याय हैं, क्योंकि विभावपरिणाम हैं, अतएव अन्तरङ्ग परिग्रह स्वयं हिंसारूप हुआ और बहिरङ्ग परिग्रह ममत्व परिणामोंके विना नहीं होता, इस कारण उसमें भी हिंसा है. यहां ध्यान रखना चाहिये कि, ममत्व परिणामोंसे ही परिग्रह होता है निर्ममत्वसे नहीं. केवली तीर्थंकरके समवशरणकी विभूति ममत्वरहित होनेसे परिग्रह नहीं है।

एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्छा विशेषेण॥ १२०॥

अन्वयार्थौ—[यदि एवं] यदि ऐसा ही है अर्थात् बहिरङ्गमें ममत्व परिणामका नाम ही मूर्छा है तो [उन्दररिपुहरिणशावकादीनां] बिल्ली तथा हरिणकेबच्चे आदिकोंमें [विशेषः] कुछ विशेषता [न स्यात्] न होवै. सो [एवं] ऐसा [न] नहीं [भवति] होता, क्योंकि [मूर्छाविशेषेण] ममत्वपरिणामोंकी विशेषतासे [तेषां] उन विलाव तथा हरिण शावक प्रमुख जीवोंके [विशेषः] विशेषता है अर्थात् समानता नहीं है।

हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्छा।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा॥ १२१॥

अन्वयार्थौ—[हरिततृणाङ्कुरचारिणि] हरे घासके अङ्कुर चरनेवाले [मृगशावके] हरिणके बच्चेमें [मूर्छा] मूर्छा [मन्दा] मन्द [भवति] होती है और [सा एव] वही हिंसा [उन्दरनिकरोन्माथिनि] चूहोंके समूहका उन्मथन करनेवाले [मार्ज्जारे] विलावमें [तीव्रा] तीव्र [जायते] होती है।

भावार्थ—हरिणका बच्चा एक तो स्वभावसे ही हरिततृणोंके पानेके अधिक शोधमें नहीं रहता, दूसरे जब उसे हरीघास मिल भी जाती है, तो थोड़ा ही आहट पाकर छोड़के भाग जाता है; परन्तु बिल्ली एक तो अपने खाद्यकी खोजमें स्वभावसे ही अधिक चेष्टित रहती है, दूसरे खाद्य मिलजानेपर वह उसमें इतनी अनुरक्त होती है कि, सिरपर लट्ट पड़जावें तौ भी उसे नहीं छोड़ती. अतएव हरिण और बिल्ली ये दो मन्द मूर्छा और तीव्र मूर्छाके अच्छे सरल और प्रकट उदाहरण हैं, इन ममत्वपरिणामोंकी विशेषतासे ही परिग्रह विशेष होता है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये।

निर्बाधं संसिद्ध्येत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव॥ १२२॥

अन्वयार्थौ—[औधस्यखण्डयोः] दूध और खांड (शक्कर) में [माधुर्य्यप्रीति-

१ चूहेका वैरी अर्थात् विलाव.

भेद इव] मधुरताके कारण रुचिमें भेद होनेके समान [इह] इसलोकमें [हि] निश्चयकर [कारणविशेषात्] कारणकी विशेषतासे [कार्यं एव] कार्य भी [विशेषः] विशेषरूप [निर्बाधं] बाधारहित [संसिद्ध्येत्] भले प्रकार सिद्ध होता है।

माधुर्य्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्य्ये।
सैवोत्कटमाधुर्य्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा॥ १२३॥

अन्वयार्थौ—[किल] निश्चयकर [मन्दमाधुर्य्ये] अल्प मिठासवाले [दुग्धे] दूधमें [माधुर्य्यप्रीतिः] मिठासकी रुचि [मन्दा] थोडी [एव] ही [व्यपदिश्यते] कही जाती है और [सा एव] वही मिठासकी रुचि [उत्कटमाधुर्य्ये] अत्यन्त मिठासवाली [खण्डे] खांड अर्थात् शक्करमें [तीव्रा] अधिक कही जाती है।

भावार्थ—जो पुरुष मिष्टरसका लोलुपी होता है, उसे दूधकी अपेक्षा शक्करमें अधिक प्रीति होती है; इसी प्रकार बाह्य परिग्रहोंका अल्परुचिकर और विशेषरुचिकर कारण पाकर अन्तरंग परिणाम होते हैं. बहुत आरंभ परिग्रहव्यापार होता है, तो ममत्वभी अधिक होता है और जो परिग्रह अल्प होता है, तो ममत्वभी अल्प होता है. हां! किसी २ पुरुषके परिग्रहके अल्प होते हुए भी अभिलाषारूप ममत्वभाव अधिक होते हैं, परन्तु इसमें आगामीकालमें होनेवाले बाह्यपरिग्रहका सङ्कल्प कारणभूत समझना चाहिये, परन्तु यदि कोई पुरुष परिग्रहको अंगीकार करता जावे और कहै कि, मेरे अन्तरंगमें ममत्वभाव नहीं है (१) तो इसे सर्वथा झूठ समझना चाहिये क्योंकि, हिंसा तो परिणामोंके विना ही शरीरादिक बाह्य निमित्त पाकर हो सक्ती है, परन्तु ममत्व अर्थात् मूर्छा परिग्रहको अंगीकार किये विना सर्वथा नहीं होती. तथा परिग्रहके संग्रहमें ममत्व परिणाम ही कारण होते हैं, अतएव ममत्व परिणामोंके परिहारकेलिये बाह्यपरिग्रह त्यागना भी अत्यावश्यक है।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥ १२४॥

अन्वयार्थौ—[प्रथमं] पहिले [एव] ही सम्यक्त्व अंगीकार होनेमें [तत्त्वार्थश्रद्धाने] तत्त्वके अर्थके अश्रद्धानमें जिसे [निर्युक्तं] संयुक्त किया है ऐसे [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्वको [च] तथा [सम्यग्दर्शनचौराः] सम्यग्दर्शनके चोर [चत्वारः] चार [प्रथमकषायाः] पहिले कषाय अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभः—

---

१ जैसे हिंसाके प्रकरणमें कहा गया है कि, किसी पुरुषसे यदि बाह्य हिंसा हो जावे और उसके परिणाम उस हिंसाके करनेके न होवें अर्थात् शुद्ध होवें, तो वह हिंसाका भागी नहीं होता.

२ मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व.

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः ।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [द्वितीयान्] दूसरे कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभको [प्रविहाय] छोडकर [देशचरित्रस्य] देशचारित्रके [सन्मुखायातः] सन्मुख आता है, [हि] क्योंकि [ते] वे [कषायाः] कषाय [नियतं] निरन्तर [देशचरित्रं] एकोदेशचारित्रको [निरुन्धन्ति] रोकते हैं ।

भावार्थ—तत्त्वार्थका श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है. क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार कषाय हैं. इन प्रत्येकके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी और संज्वलनी ये चार २ भेद होकर सब सोलह भेद होते हैं. इनमेंसे कषायोंके प्रथम चार भेद अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ ये सम्यग्दर्शनके चोर है, क्योंकि इनका क्षय हुए विना अथवा उपशम हुए विना सम्यग्दर्शन नहीं हो सक्ता । अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ एकोदेश चारित्रको (श्रावकव्रतको) रोकते हैं, इसलिये इन्हें अप्रत्याख्यानावरणी[1] कहते हैं ।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्द्दवशौचादिभावनया ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थौ—अतएव [निजशक्त्या] अपनी शक्तिसे [मार्द्दवशौचादिभावनया] मार्दव शौच, संयमादि दशलाक्षणिक धर्मोंके द्वारा [शेषाणां] अवशेष [सर्वेषां] सम्पूर्ण [अन्तरङ्गसङ्गानां] अन्तरंग परिग्रहोंका [परिहारः]त्याग [कर्त्तव्यः] करना चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया और लोभ सकल संयमको रोकते हैं, इसलिये इनके नाशसे ही मुनिपद प्राप्त होता है, और संज्वलन संयमके साथ दैदीप्यमान रहता है; सुतरां संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्यादिक छह व तीन वेदके नाशसे यथाख्यातचारित्रकी प्राप्ति होती है. इसलिये जहां तक वने इन सवका त्याग करना चाहिये और जो न बने, तो श्रावकधर्ममें मिथ्यात्व, अनन्तानुवन्धी चतुष्क और अप्रत्याख्यानावरणी चतुष्कका त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये ।

बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः ।
परिवर्ज्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थौ—[वा] तथा [तं] उस वाह्यपरिग्रहको चाहे वह [अचित्तं] अचित्त हो [वा] अथवा [सचित्तं] सचित्त हो, [अशेषं] सम्पूर्ण ही [परिवर्ज्जयेत्] छोड़ देना चाहिये. [यस्मात्] क्योंकि [वहिरङ्गात्] बहिरंग [सङ्गात्] परिग्रहसे [अपि] भी [अनुचितः] अयोग्य अथवा निंद्य [असंयमः] असंयम [प्रभवति] होता है ।

---

१ अ=ईषत्=थोडा, **प्रत्याख्यान**=त्याग, **आवरण**=प्रकाशरोधक.

भावार्थ—बाह्यपरिग्रहका त्याग किये विना संयम चारित्र नहीं हो सक्ता, इस लिये सचित्त अचित्त दोनों प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करना ही कल्याण-कारी है।

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनू करणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्॥ १२८॥

अन्वयार्थौ—[अपि] और [यः] जो पुरुष [धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि] धन-धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदादिक [त्यक्तुं] छोड़नेको [शक्यः] समर्थ [न] नहीं है, [सः] उसे [अपि] भी जहांतक हो सके परिग्रहको [तनू] न्यून (कृश) [करणीयो] करना चाहिये. [यतः] क्योंकि [निवृत्तिरूपं] त्यागरूप ही [तत्त्वं] तत्त्व है, अर्थात्, वस्तुका स्वरूप है।

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥ १२९॥

अन्वयार्थौ—[यस्मात्] इसलिये कि, [रात्रौ] रात्रिमें [भुञ्जानानां] भोजन करनेवालोंके [हिंसा] हिंसा [अनिवारिता] अनिवारित अर्थात् जिसका निवारण न हो सके [भवति] होती है, [तस्मात्] अतएव [हिंसाविरतैः] हिंसाके त्यागीको [रात्रिभुक्तिः अपि] रात्रिको भोजन करना भी [त्यक्तव्या] त्याग करना चाहिये।

भावार्थ—जो पुरुष हिंसाके त्यागी हैं, उन्हें रात्रिभोजनका त्याग अवश्य ही करना चाहिये।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति॥ १३०॥

अन्वयार्थौ—[अनिवृत्तिः] अत्यागभाव [रागाद्युदयपरत्वात्] रागादिक भावोंके उदयकी उत्कृष्टतासे [हिंसा] हिंसाको [न अतिवर्त्तते] उल्लङ्घन करके नहीं वर्तते हैं, तो [रात्रिं] रात्रिको और [दिवं] दिनको [आहरतः] आहार करनेवालोंके [हि] निश्चय-कर [हिंसा] हिंसा [कथं] कैसे [न संभवति] संभव नहीं होती?

भावार्थ—जिस जीवके तीव्र रागभाव होते हैं, वह त्याग नहीं कर सक्ता है, इसलिये जिसको भोजनसे अधिक राग होगा, वह ही रात्रि दिन खावेगा और जहां राग है, वहां हिंसा अवश्य है।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा॥ १३१॥

अन्वयार्थौ—[यदि एवं] यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा है, [तर्हि] तो [दिवा भोजनस्य] दिनके भोजनका [परिहारः] त्याग [कर्तव्यः]

करना चाहिये [तु] और [निशायां] रात्रिमें [भोक्तव्यं] भोजन करना चाहिये, क्योंकि [इत्थं] इस प्रकारसे [हिंसा] हिंसा [नित्यं] सदाकाल [न] नहीं [भवति] होगी।

नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थौ—[एवं न] ऐसा नहीं है! क्योंकि, [अन्नकवलस्य] अन्नके ग्रासके (कौरके) [भुक्तेः] भोजनसे [मांसकवलस्य] मांसके ग्रासके [भुक्तौ इव] भोजनमें जैसे राग अधिक होते हैं वैसेही [वासरभुक्तेः] दिनके भोजनसे [रजनिभुक्तौ] रात्रिभोजनमें [हि] निश्चयकर [रागाधिकः] अधिक राग [भवति] होते हैं।

भावार्थ—उदरभरणकी अपेक्षा सब प्रकारके भोजन समान हैं, परन्तु अन्नके भोजनमें जिस प्रकार साधारण रागभाव हैं, वैसे मांसभोजनमें नहीं हैं, मांसभोजनमें विशेष रागभाव हैं, क्योंकि अन्नका भोजन सब मनुष्योंको सहज ही मिलता है और मांसका भोजन अतिशय कामादिककी अपेक्षा अथवा शरीरादिकके स्नेहकी अपेक्षा विशेष प्रयत्नसे किया जाता है; इसी प्रकार दिनका भोजन सब मनुष्योंके सहज ही होता है, इस लिये उसमें साधारण रागभाव होते हैं, परन्तु रात्रिके भोजनमें शरीरादिक व कामादिक पोषणकी अपेक्षा विशेष रागभाव होते हैं; अतएव रात्रिभोजन ही त्याज्य है।

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसां।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थौ—तथा [अर्कालोकेन विना] सूर्यके प्रकाशके विना अर्थात् रात्रिमें [भुञ्जानः] भोजन करनेवाले पुरुषोंके [बोधितः] जलाये हुए [प्रदीपे] दीपकमें [अपि] भी [भोज्यजुषां] भोजनमें मिलेहुए [सूक्ष्मजीवानां] सूक्ष्म जन्तुओंकी [हिंसां] हिंसाको [कथं] किस प्रकार [परिहरेत्] दूर की जावेगी?।

भावार्थ—दीपकके प्रकाशमें सूक्ष्मजन्तु दृष्टिगोचर नहीं हो सक्ते, तथा रात्रिमें दीपकके प्रकाशसे नानाप्रकारके ऐसे छोटे वडे जीवोंका सञ्चार होता है, जो दिनमें कभी दिखाई भी नहीं देते. अतएव रात्रिभोजनमें प्रत्यक्ष हिंसा है और जो रात्रिभोजन करैगा, वह हिंसासे कभी नहीं वच सकेगा।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थौ—[वा] अथवा [बहुप्रलपितैः] बहुत प्रलापसे [किं] क्या? [यः] जो पुरुष [मनोवचनकायैः] मन, वचन और कायसे [रात्रिभुक्तिं] रात्रिभोजनको

[परिहरति] त्याग देता हैं, [सः] वह [सततम्] निरन्तर [अहिंसां] अहिंसाको [पालयति] पालन करता है।

भावार्थ—जिस महाभाग्यने रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग कर दिया है, वह ही सच्चा अहिंसक है. रात्रिभोजन त्यागके विना अहिंसाव्रतकी सिद्धि नहीं होती, अतएव कोई २ आचार्य इसे अहिंसा अणुव्रतमें गर्भित करते हैं।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण॥ १३५॥

अन्वयार्थौ—[इति] इस प्रकार[1] [अत्र] इस लोकमें [ये] जो [स्वहितकामाः] अपने हितके वांछक [मोक्षस्य] मोक्षके [त्रितयात्मनि] रत्नत्रयात्मक[2] [मार्गे] मार्गमें [अनुपरतं] सर्वदा [प्रयतन्ते] प्रयत्न करते हैं, [ते] वे पुरुष [मुक्तिं] मुक्तिको [अचिरेण] शीघ्र ही [प्रयान्ति] गमन करते हैं।

भावार्थ—इस जीवका हित मोक्ष है क्योंकि, मोक्षके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार सुख नहीं है; अतएव मोक्षकी प्राप्तिका उपाय करना परम कर्तव्य है. जैसे किसी नगरमें पहुंचनेकेलिये उस नगरके सन्मुख निरन्तर गमन करना पड़ता है, उसी प्रकार मोक्षरूप नगरमें शीघ्र पहुंचनेके लिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मार्गोंके सन्मुख होकर चलना पडता है।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥ १३६॥

अन्वयार्थौ—[किल] निश्चय करके [नगराणि] नगरोंके [परिधयः इव] परिधियोंकी तरह [शीलानि] तीन गुणव्रत[3] और चार शिक्षाव्रत[4] ये सप्तशील [व्रतानि] पांचों अणुव्रतोंका [पालयन्ति] पालन करते अर्थात् रक्षा करते हैं, [तस्मात्] अतएव [व्रतपालनाय] व्रतोंका पालन करनेकेलिये [शीलानि] शीलव्रतोंको [अपि] भी [पालनीयानि] पालन करना चाहिये।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता॥ १३७॥

अन्वयार्थौ—[सुप्रसिद्धैः] अत्यन्त प्रसिद्ध [अभिज्ञानैः] ग्राम, नदी, पर्वतादि नाना ठिकानोंसे [सर्वतः] सब ओर [मर्यादां] मर्यादाको [प्रविधाय] करके

---

१ पूर्वकथनके अनुसार.
२ तत्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, विशेषपरिज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और हिंसावर्ज्जनरूप सम्यक् चारित्र.
३ दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्डव्रत.
४ सामयिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण, और अतिथिसंविभाग.

[प्राच्यादिभ्यः] पूर्वादिक [दिग्भ्यः] दिशाओंकरके [अविचलता विरतिः] गमन करनेकी प्रतिज्ञा [कर्तव्या] करना चाहिये।

भावार्थ—प्रथम गुणव्रतका नाम दिग्व्रत है. दिग्व्रत उसे कहते हैं जिसमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, अधो, और ऊर्ध्व इन दश दिशाओंमें गमन करनेकी प्रतिज्ञा यावज्जीवके लिये धारण की जाती है. यह प्रतिज्ञा दिशाओं और विदिशाओंमें नदी, पर्वत, नगरादिक प्रसिद्ध स्थानोंके संकेतसे की जाती है. जैसे उत्तरमें गंगानदी, दक्षिणमें नीलगिरि पर्वत, पूर्वमें छत्तीसगढ, पश्चिममें कटक, ईशानमें पटना, आग्नेयमें कटक, नैर्ऋत्यमें तापी नदी, और वायव्यमें विंध्याचल पर्वततक जानेकी यदि किसी पुरुषकी प्रतिज्ञा होगी, तो वह इन नियमित स्थानोंसे आगे नहीं जा सकेगा. और अधोदिशाकी प्रतिज्ञा कूप, खातिकादिकोंकी गहराईसे तथा ऊर्ध्व दिशाकी मन्दिर, पर्व्वतादिकोंकी उंचाईसे की जाती है. जैसे यदि किसी पुरुषके अधो दिशामें ५० गज और ऊर्ध्वदिशामें २०० गज जानेकी प्रतिज्ञा हो, तो वह ५० गजसे नीचे कूपादिकोंमें तथा २०० गजसे ऊंचे मंदिर पर्वतोंपर नहीं जा सकेगा।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो वहिस्तस्याः।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो [इति] इसप्रकार [नियमितदिग्भागे] मर्यादाकृत दिशाओंके भागमें [प्रवर्त्तते] वर्त्ताव करता है, [तस्याः] उस पुरुषके [ततः] उस क्षेत्रसे [वहिः] वाहिर [सकलअसंयमविरहात्] समस्त ही असंयमके त्यागके कारण [पूर्णं] परिपूर्ण [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [भवति] होता है।

भावार्थ—जहांतककी मर्यादा की जाती है, उसके वहिर्गत समस्त त्रसस्थावरोंके घातका निषेध हो जाता है और इसकारण मर्यादासे वाहिर महाव्रत कहे गये हैं, अतएव दिग्व्रत धारण करना परमावश्यक है।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्[1]।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थौ—[च] और [तत्रापि] उस दिग्व्रतमें भी [ग्रामापणभवनपाटकादीनां] ग्राम, बाजार, मन्दिर, मुहल्लादिकोंका [परिमाणं] परिमाण [प्रविधाय] करके [देशात्] मर्यादाकृतक्षेत्रसे बाहिर [नियतकालं] किसी नियत समयपर्यन्त [विरमणं] त्याग [करणीयं] करना चाहिये।

भावार्थ—दूसरे गुणव्रतको देशव्रत कहते हैं. दिग्व्रत और देशव्रतमें इतना अन्तर है कि, दिग्व्रतमें जो त्याग होता है, वह सदाकालके लिये अर्थात् यावज्जीव होता है और

---

१ ग्रामापणभवनवाटिकादीनामित्यपि पाठः.

देशव्रतमें कालकी मर्यादापूर्वक वर्ष, छह महीना, मास, पक्ष वा दो दिन, चार दिन, घड़ी दो घडी आदिका त्याग किया जाता है. तथा दिग्व्रतमें जितने क्षेत्रकी मर्यादा की जाती है, देशव्रतमें उसके मध्यवर्त्ती थोड़ेसे क्षेत्रकी प्रतिज्ञा की जाती है. जैसे अमुकप्रदेशसे वाहिर कभी नही जावेंगे, यह दिग्व्रत और इतने दिन वा इतने समयतक अमुक ग्राम तथा मुहल्लेसे वाहिर नहीं जावेंगे, यह देशव्रत है ।

इति विरतो वहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसाविशेषेण ॥ १४० ॥

अन्वयार्थौ—[इति] इसप्रकार [वहुदेशात् विरतः] वहुतक्षेत्रका त्यागी [विमलमतिः] निर्म्मल वुद्धिवाला श्रावक [तत्कालं] उस नियमितकालमें [तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्] मर्यादाकृतक्षेत्रसे उत्पन्न हुई हिंसा विशेषके परिहारसे [विशेषेण] विशेषतासे [अहिंसां] अहिंसाव्रतको अपने [श्रयति] आश्रय करता है ।

भावार्थ—दिग्व्रतमें क्षेत्र वहुत होता है. उसमेंसे किञ्चित्कालकी मर्यादापूर्वक थोडासा क्षेत्र देशव्रतमें रक्खा जाता है, अतएव वाह्यक्षेत्रकी अपेक्षा पूर्वोक्त रीतिसे सकल संयमीपनाका सद्भाव होता है. जिस प्रकार दिग्व्रतमें हिंसाका त्याग है, उसीप्रकार देशव्रतमें विशेष हिंसाका त्याग है. यही अन्तर है ।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थौ—[पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः] शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चौरी[1]आदिक [कदाचनापि] किसी समयमें भी [न चिन्त्याः] नहीं चिन्तवन करना चाहिये, [यस्मात्] क्योंकि इन अपध्यानोंका [केवलं] केवल [पापफलं] पाप ही फल है ।

भावार्थ—यह तीसरे अनर्थदंडव्रतका वर्णन है, विना प्रयोजन पाप करनेको अनर्थदंड कहते हैं और विनाप्रयोजन पाप करनेके त्यागको अनर्थदंडव्रत कहते हैं. इसके पांच भेद हैं. १ अपध्यान, २ पापोपदेश, ३ प्रमादचर्य्या, ४ हिंसादान, और ५ दुःश्रुति, जिनमेंसे यह प्रथम अपध्यान कहा गया है ।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थौ—[विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां] विद्या[2], व्यौपार[3],

---

१. आदि शब्दसे वध, वन्धन, अङ्गछेदन, सर्वस्वहरणादि दुष्ट चितवन भी जानना.

२. ज्योतिष, वैद्यक, सामुद्रिकादि विद्या. ३. पशुपालनादि व्यापार.

लेखनकला, खेती, नौकरी, और कारीगरीसे जीविका करनेवाले [पुंसां] पुरुषोंको [पापोपदेशदानं] पापके उपदेशदाता [वचनं] वचन [कदाचिदपि] किसी समय भी [नैव] नहीं [वक्तव्यं] बोलना चाहिये।

भावार्थ—किसी पुरुषको आजीविकाके करनेवाले नानाप्रकारके कर्म करनेका उपदेश देना, इसको पापोदेश नामक अनर्थदंड कहते हैं क्योंकि, इससे आपको लाभ कुछ नहीं होता, केवल पापबंध होता है।

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च॥ १४३॥

अन्वयार्थौ—[भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि] पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाडना, अतिशय घासवाली जगह रोंदना, पानी सींचना आदि [च] और [दलफलकुसुमोच्चयान्] पत्र, फल, फूल तोडना [अपि] भी [निष्कारणं] प्रयोजनके विना [न कुर्यात्] न करै।

भावार्थ—गृहस्थ त्रस जीवोंका रक्षक तो है ही, परन्तु जहां तक बने, उसे स्थावर जीवोंकी रक्षा भी करनी चाहिये. अर्थात् जब तक कोई विशेष प्रयोजन न आ पड़े, स्थावर जीवोंकी भी निष्कारण विराधना न करै[1]. यह प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥ १४४॥

अन्वयार्थौ—[असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनां] छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष, आदि[2] [हिंसायाः] हिंसाके [उपकरणानां] उपकरणोंका [वितरणं] वितरण अर्थात् दूसरोंको देना [यत्नात्] यत्नसे अर्थात् सावधानीसे [परिहरेत्] छोड देवै।

भावार्थ—हिंसाके जितने साधन हैं, उनके विना यदि अपना कार्य नहीं चलता हो तो रख लेवे, परन्तु वे साधन दूसरोंको कभी न देवे; क्योंकि उक्त साधन देनेसे देनेवालेको उनसे उत्पन्न होनेवाली हिंसाके पापबंधका भागी निष्कारण ही होना पडता है. यह हिंसाप्रदान[3] नामक चौथा अनर्थदण्ड है।

---

१ तथाचोक्तं यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्ये (सप्तम आश्वासे उपासकाध्ययने षड्विंशकल्पे)

भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम्।
यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्य्यादयं तु यत्॥

२ आदि शब्दसे करोंत, मुद्गर, भाला, बरछी आदि भी समझना चाहिये.

३ श्वान, मार्जारादि हिंसक जीवोंका पालना भी इस अनर्थदण्डमें गर्भित है.

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥ १४५॥

अन्वयार्थौ—[रागादिवर्द्धनानां] राग द्वेष मोहादिको वृद्धिगत करनेवाली तथा [अवोधबहुलानां] बहुत करके अज्ञानतासे भरी हुई [दुष्टकथानां] दुष्ट कथाओंका[1] [श्रवणार्जनशिक्षणादीनि] श्रवण=सुनना, अर्जन=संग्रह, शिक्षण=सीखना आदिक [कदाचन] किसीभी समय [न कुर्वीत] न करै।

भावार्थ—दुष्ट शृङ्गारादिरूपकथाओंमें न तो धर्म होता है, न किसीप्रकारकी आजीविका होती है, निष्प्रयोजन उपयोग लगाना पड़ता है और उपयोग लगानेसे परिणाम तद्रूप होकर व्यर्थ ही पापबंधके कारण हो जाते हैं, अतएव ऐसी कथाओंका पठन पाठन सर्वथा त्याज्य है, यह दुःश्रुति नामक पांचवां अनर्थदण्ड है।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्य्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥ १४६॥

अन्वयार्थौ—[सर्वानर्थप्रथमं] सप्तव्यसनोंका प्रथम[2] अथवा सम्पूर्ण अनर्थोंका मुखिया [शौचस्य मथनं] संतोषका नाश करनेवाला [मायायाः] मायाचारका [सद्म] घर और [चौर्य्यासत्यास्पदं] चोरी तथा असत्यका स्थान [द्यूतं] जुआ [दूरात्] दूरसे ही [परिहरणीयं] त्यागकर देना चाहिये।

भावार्थ—जुआ खेलनेवाले खेलनेमें चोरी करते हैं और झूठ बोलते हैं, क्योंकि जब हारते हैं, तब जीतनेकी तृष्णा व मोहमें चोरी करते तथा असत्य बोलते हैं और जब जीतते हैं, तब द्रव्य प्रचुरतासे वेश्यागमनादि दुष्कर्म करते हैं; तथा झूठ बोलते व छिपकर चोरी करते हैं. सारांश द्यूतक्रीडामें पापबंध अधिक होता है, परंतु प्रयोजनकी सिद्धि कुछ भी नहीं होती. अतएव यह भी एक अनर्थदण्ड है।

एवंविधिमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते॥ १४७॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो पुरुष [एवं विधिं] इस प्रकार [अपरं][3] अन्य भी [अनर्थदण्डं] अनर्थदण्डोंको [ज्ञात्वा] जान करके [मुञ्चन्ति] त्याग करता है, [तस्य] उसके [अनवद्यं] निर्दोष [अहिंसाव्रतं] अहिंसाव्रत [अनिशं] निरन्तर [विजयं] विजय [लभते] प्राप्त करता है।

---

१ कोकादि कुशास्त्र कामोद्दीपन करनेवाले हैं तथा हिंसाके प्रवर्तक हैं, अतएव दुष्ट हैं.

२ जुआके पश्चात् सब व्यसन प्रगट हो जाते है, अतएव यह सर्व व्यसनोंमें प्रथम और मुख्य है.

३ कौतूहलादिकम्।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थौ—[रागद्वेषत्यागात्] रागद्वेषके त्यागसे [निखिलद्रव्येषु] समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें [साम्यं] साम्यभावको [अवलम्ब्य] अंगीकार कर [बहुशः] वारंवार [तत्त्वोपलब्धिमूलं] आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूल कारण [सामायिकं] सामायिक [कार्यम्] करना चाहिये ।

भावार्थ—एकरूप होकर स्वरूपमें प्राप्त होनेको 'समय' कहते हैं, तथा 'समय' जिसका प्रयोजन होता है उसे 'सामायिक'[1] कहते हैं. उक्त प्रयोजनकी अर्थात् समयकी सिद्धि साम्यभावसे होती है, अतएव साम्यभावका नाम ही सामायिक है. और अपनेको सुख देनेवाली इष्ट वस्तुओंमें राग तथा दुखदेनेवाली अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेषके त्यागको साम्यभाव कहते हैं. इस साम्यभावके होने पर स्वरूपमें मग्न होना परम कर्तव्य है, कदाचित् यह न हो सके, तो शुभोपयोगरूप भक्ति व तत्त्वविचारमें प्रवर्त होना चाहिये, अथवा सामायिकसम्बधी नमस्कार, आवर्त, शिरोनति आदि क्रियाकाण्डमें तत्पर होना चाहिये ।

अङ्गों को भूस्पर्श कर मस्तकके नम्र करने को नमस्कार हाथ जोडकर प्रदक्षिणा करनेको आवर्त और हाथ जोडकर मस्तक नवानेको शिरोनति कहते हैं ।

पहिले ईर्यापथ शोधनपूर्वक तीन आवर्त्त करके एक शिरोनति करै. पश्चात् 'णमो अरहंताणं, आदि पाठ करके पूर्णतामें तीन आवर्त्त देकर एक शिरोनति करै. फिर कायोत्सर्ग करके तीन आवर्त्त देकर एक शिरोनति करै. तदुपरान्त 'थोसामि' इत्यादि पाठ करके पूर्णतामें एक नमस्कार कर तीन आवर्त्त देकर एक शिरोनति करै. अनन्तर कालका प्रमाणकर साम्यभावसंयुक्त शुभोपयोग व शुद्धोपयोगरूप रहै. इसको सामायिक कहते हैं. सामायिकके साधनसे सहज स्वरूपानन्दकी प्राप्ति होती है ।

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थौ—[तत्] वह सामायिक [रजनीदिनयोः] रात्रि और दिनके [अन्ते] अन्तमें[2] [अविचलितं] एकाग्रतापूर्वक [अवश्यं] अवश्यमेव [भावनीयं] करना चाहिये. [पुनः] फिर यदि [इतरत्र समये] अन्यसमयमें [कृतं] किया जावे तो, [तत् कृतं]

१ सम्=एकरूप होकर अयः=स्वरूपमें गमन अर्थात् समय और समय ही है प्रयोजन जिसका, सो सामायिक है.

२ प्रातःकाल और संध्याकालमें.

वह सामायिक कार्य [दोषाय] दोषके हेतु [न] नहीं, किन्तु [गुणाय] गुणके लिये ही होता है।

भावार्थ—यद्यपि सामायिक सदाकाल करना परमोत्कृष्ट है, परन्तु गृहस्थके निर्वाहकेलिये दिनमें दो वारकी आज्ञा दी गई है. गृहस्थको इस आज्ञाका लोप कदापि न करना चाहिये. इन दो सन्ध्याओंके सिवाय अधिक व अतिरिक्त समयमें भी करै तो निषेध नहीं है।

सामायिकके लिये १ योग्यक्षेत्र, २ योग्यकाल, ३ योग्यआसन ४ योग्यविनय ५ मनःशुद्धि, ६ वचनशुद्धि और ७ कायशुद्धि इन ७ बातोंकी अनुकूलता होना परमावश्यक है, क्योंकि इनके विना मनुष्यके भाव निर्मल और निश्चल नहीं हो सक्ते।

सामायिकाश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य॥ १५०॥

अन्वयार्थौ—[एषां] इन [सामायिकाश्रितानां] सामायिक दशाको प्राप्त हुए श्रावकोंके [चरित्रमोहस्य] चारित्र मोहके [उदये अपि] उदय होते भी [समस्तसावद्ययोगपरिहारात्] समस्त पापके योगोंके परिहारसे [महाव्रतं] महाव्रत [भवति] होता है।

भावार्थ—जिसमें हिंसादिक पापोंका एकोदेश त्याग होता है, उसे अणुव्रत और जिसमें सर्वथा त्याग होता है, उसे महाव्रत कहते हैं. सुतरां सामायिक करते समय सर्वथा पापक्रियाकी निवृत्ति होती है. यद्यपि श्रावकके प्रत्याख्यानावरणी चारित्रमोहनीयका उदय होता है, परन्तु वह सामायिकके समयमें 'समस्तसावद्ययोगपरिहारात्' महाव्रती ही है. इस ही सामायिकके बलसे निर्ग्रन्थ लिङ्गधारी ग्यारहअङ्गका पाठी परन्तु अभव्य जीव अहमेन्द्रपदको पाता है।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः॥ १५१॥

अन्वयार्थौ—[प्रतिदिनं] प्रतिदिन [आरोपितं] आरोपित किये हुए अर्थात् अंगीकार कियेहुए [सामायिकसंस्कारं] सामायिकरूप संस्कारको [स्थिरीकर्तुं] स्थिर

---

१ तथाचोक्तं:—योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनतिः।
त्रिनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत्॥

अर्थ—योग्यकाल, योग्यआसन, योग्यस्थान, योग्यमुद्रा, योग्यआवर्त्त, योग्यशिरोनति (मस्तकनमन) जिसके होवे वह पुरुष यथाजात अर्थात् जिस प्रकार माताके गर्भसे उत्पन्न होनेपर परिग्रहरहित होता है उसी प्रकार होकर एक वस्त्र मात्र परिग्रहके धारणपूर्वक निर्मल सामायिक क्रियाके विधानको करै।

करनेकेलिये [द्वयोः] दोनों [पक्षार्द्धयोः] पक्षोंके अर्द्धभागमें अर्थात् अष्टमी चतुर्दशीके दिन [उपवासः] उपवास [अवश्यं अपि] अवश्य ही [कर्त्तव्यः] करना चाहिये।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ॥ १५२॥

अन्वयार्थौ—[मुक्तसमस्तारम्भः] समस्त आरंभसे मुक्त होकर [देहादौ] शरीरादिकमें [ममत्वं] आत्मबुद्धिको [अपहाय] त्यागकर [प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे] उपवासके दिनके पूर्वदिनके मध्यमें [उपवासं] उपवासको [गृह्णीयात्] अंगीकार करै।

भावार्थ—जिस दिन उपवास करना हो, उसके एक दिन पहिले मध्यान्हके समय (दो प्रहरको) समस्त आरंभसे ममत्व छोडकर उपवासकी प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्॥ १५३॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् [विविक्तवसतिं] निर्जनवस्तिकाको[1] [श्रित्वा] प्राप्त होकर [समस्तसावद्ययोगं] सम्पूर्णसावद्य[2]योग [अपनीय] त्याग[3]कर और [सर्वेन्द्रियार्थविरतः] सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयसे विरक्त होकर [कायमनोवचनगुप्तिभिः] मनगुप्ति[6], वचनगुप्ति[5] और काय[4]गुप्ति सहित [तिष्ठेत्] स्थित होवै।

धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः॥ १५४॥

अन्वयार्थौ—[विहितसान्ध्यविधिम्] कर लीगई है प्रातःकाल और संध्याकालीन सामायिकादि क्रियां जिसमें ऐसे [वासरं] दिनको [धर्मध्यानाशक्तः सन्] धर्मध्यानमें आशक्ततापूर्वक [अतिवाह्य] व्यतीत करके [स्वाध्यायजितनिद्रः] पठनपाठनसे निद्राको जीतता हुआ [शुचिसंस्तरे] पवित्र संथारे पर [त्रियामां] रात्रिको [गमयेत्] गमावै अर्थात् पूर्ण करै।

---

१ प्राचीन समयमें नगर ग्रामोंके वाहिर धर्मात्मा लोग मुनियोंके ठहरनेकेलिये अथवा सामायिकादि करनेके लिये कुटी बनवा दिया करते थे, उन्हें वस्तिका कहते थे. कई नगरोंमें ये वस्तिकायें अब भी पाई जाती हैं.

२ अपध्यान अपकथन और अपचेष्टारूप सावद्य क्रिया.

३ जिस समय सावद्य क्रियाओंका त्याग करै, उस समय "अहं समस्तसावद्ययोगविरतोस्मि" अर्थात् "मैं सम्पूर्ण पापके योगोंका त्यागी होता हूं" ऐसी प्रतिज्ञा करै.

४ शरीर निश्चल रखना. यदि कुछ चेष्टा करनी हो; तो प्रमाणानुकूलक्षेत्रमें धर्मरूप करनी.

५ मौनावलम्बी रहना अथवा धर्मरूप स्तोक (थोड़ा) बोलना.

६ मनमें विकल्प न करना और यदि करना, तो धर्मरूप करना.

भावार्थ—उपवास करनेवाला श्रावक उपवासके पहिलेका दिन धर्मध्यानमें संध्या सामायिकादि कार्योंमें और रात्रि पठनपाठनमें पूर्ण करै।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्राशुकैर्द्रव्यैः॥ १५५॥

अन्वयार्थौ—[ततः] तदुपरान्त [प्रातः] प्रभात ही [प्रोत्थाय] उठकर [तात्कालिकं] प्रातः कालसम्बन्धी [क्रियाकल्पं] क्रियासमूहोंको [कृत्वा] करके [प्राशुकैः] प्राशुक अर्थात् जीवरहित [द्रव्यैः] द्रव्योंसे [यथोक्तं] आर्षग्रंथोंमें जिसप्रकार कही है उसप्रकारसे [जिनपूजां] जिनेश्वरदेवकी पूजाको [निर्वर्तयेत्] करै।

भावार्थ—यद्यपि प्रोषधोपवासमें समस्त प्रकारके आरंभोंका त्याग कहा गया है, परन्तु पूजाके आरंभका त्याग नहीं कहा है. अर्थात् पूजनकेलिये स्नानादिक आरंभरूप क्रियावर्जित नहीं हैं. क्योंकि, पूजाका पुण्य इतना अधिक है कि, उसके प्रमाणमें आरंभजनित पाप किसी गिनतीमें भी नहीं है।

प्रोषधोपवासमें भगवान्‌की पूजन प्राशुकद्रव्योंसे करना चाहिये सचित्त फलपुष्पादिकोंसे नहीं क्योंकि, कच्चे फलादिक प्रायः अनन्तकाय होते है।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य॥ १५६॥

अन्वयार्थौ—[ततः] इसके पश्चात् [उक्तेन] पूर्वोक्त [विधिना] प्रकारसे [दिवसं] उपवासके दिनको [च] और [द्वितीयरात्रिं] दूसरी रात्रिको [नीत्वा] प्राप्त होके [च] फिर [तृतीयदिवसस्य] तीसरे दिनके [अर्द्धं] आधेको भी [प्रयत्नात्] अतिशय यत्नाचारपूर्वक [अतिवाहयेत्] व्यतीत करै।

भावार्थ—ऊपर कहे हुए १५३ और १५४ वें श्लोकमें जिसप्रकार उपवासके पहिले दिनके अर्ध भागको अर्थात् उपवासकी प्रतिज्ञा ग्रहण करनेके पश्चात्‌के समयको व्यतीत करनेकी विधि कही है; उसीप्रकार उपवासके दिनको, उपवासकी रात्रिको अर्थात् दूसरी रात्रिको, और तीसरे दिनके आधेको अर्थात् उपवासके दूसरे दिनके दोपहरपर्यंत समयको धर्मध्यानमें, सामायकादि क्रियाओंमें, और पठनपाठनमें यत्नपूर्वक व्यतीत करना चाहिये।

---

१ सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिलवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

अर्थ—जो द्रव्य सूखा हो, परिपक्व हो, तप्त हो, आम्लरस तथा लवणमिश्रित हो, कोल्हू चर्खा चक्की छुरी आदिक यंत्रोंसे छिन्न, भिन्न किया हुआ तथा संशोधित हो. सो सब प्राशुक है. यह गाथास्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृतटीकामें तथा केशववर्णीकृत गोमट्टसारजीकी संस्कृत टीकामें भी सत्य वचनके भेदोंमें कहीगई है।

इति यः षोड़शयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थौ—[**यः**] जो जीव [**इति**] इस प्रकार [**परिमुक्तसकलसावद्यः सन्**] सम्पूर्ण पाप क्रियाओंसे परिमुक्त होकर [**षोड़शयामान्**] सोलहप्रहरोंको [**गमयति**] गमाता है अर्थात् व्यतीत करता है, [**तस्य**] उसके [**तदानीं**] उतने समयतक [**नियतं**] निश्चयपूर्वक [**पूर्णम्**] सम्पूर्ण [**अहिंसाव्रतं**] अहिंसाव्रत [**भवति**] होता है ।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् ।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥ १५८ ॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्ममैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्छस्य ॥ १५९ ॥ (युग्मम्)

अन्वयार्थौ—[**किल**] निश्चयकरके [**अमीषां**] इन देशव्रती श्रावकोंके [**भोगोपभोगहेतोः**] भोगोपभोगके हेतुसे [**स्थावरहिंसा**] स्थावरजीवोंकी हिंसा [**भवेत्**] होती है, किन्तु [**भोगोपभोगविरहात्**] भोगोपभोगके विरहसे अर्थात् त्यागसे [**हिंसायाः**] हिंसाका [**लेशः अपि**] लेश भी [**न**] नहीं [**भवति**] होता. और उपवासधारी पुरुषके [**वाग्गुप्तेः**] वचनगुप्तिके होनेसे [**अनृतं**] झूठ वचन [**नाऽस्ति**] नहीं है, [**समस्तादानविरहतः**] सम्पूर्ण अदत्तादानके त्यागसे [**स्तेयं**] चोरी [**न**] नहीं है, [**मैथुनमुचः**] मैथुनको छोड़ देनेसे [**अब्रह्म**] अब्रह्म [**न**] नहीं है, और [**अङ्गे**] शरीरमें [**अमूर्छस्य**] निर्ममत्वके होनेसे [**सङ्गः**] परिग्रह [**अपि**] भी [**न**] नहीं है ।

भावार्थ—यद्यपि देशव्रती गृहस्थ त्रसजीवोंकी हिंसाका त्यागी होता है, तथा भोगोपभोगके निमित्तसे स्थावर जीवोंकी रक्षा नहीं कर सक्ता, परन्तु उपवासके दिन वह भी हिंसाका पूर्णरूपसे त्यागी हो जाता है. क्योंकि, उस दिन भोगोपभोगके त्यागसे स्थावर जीवोंके वध होनेका भी कोई कारण नहीं रहता. और उपवासमें पूर्ण अहिंसाव्रतकी पालना होनेके अतिरिक्त अवशेष चारों व्रत (अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह) भी स्वयमेव पलते हैं ।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥ १६० ॥

अन्वयार्थौ—[**इत्थं**] इसप्रकार [**अशेषितहिंसः**] सम्पूर्ण हिंसाओंसे रहित [**सः**] वह प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष [**उपचारात्**] उपचारसे[1] [**महाव्रतित्वं**] महाव्रतीपनेको [**प्रयाति**] प्राप्त होता है, [**तु**] परन्तु [**चरित्रमोहे**] चारित्रमोहके [**उदयति**] उदय-

---

१ व्यवहारनयसे.

रूप होनेके कारण [संयमस्थानं] संयमके स्थानको अर्थात् प्रमत्तगुणस्थानको [न] नहीं [लभते] पाता।

भावार्थ—उपवासधारी पुरुषके पांच प्रकार पापोंमेंसे किसीप्रकार भी पाप नहीं होता, अतएव महाव्रती न होनेपर भी उसे उतने समयतक उपचाररूप कथनसे महाव्रती कह सक्ते हैं, परन्तु प्रत्याख्यानावरणी तथा संज्वलन प्रकृतिका उदय उससे दूर नहीं हुआ है, इसलिये वह छठवें प्रमत्तगुणस्थानको नहीं पा सक्ता. सुतरां सकल संयमघातनी प्रकृतिके उदयसे उक्त देशव्रती श्रावकको महाव्रती नहीं कह सक्ते. हां! महाव्रतीके समान कह सक्ते हैं।

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥ १६१॥

अन्वयार्थौ—[विरताविरतस्य] देशव्रती श्रावकके [भोगोपभोगमूला] भोग[1] और उपभोगोंके[2] निमित्तसे होनेवाली [हिंसा] हिंसा [अन्यतः न] अन्य प्रकारसे नहीं होती है, अतएव [तौ] वे दोनों अर्थात् भोग और उपभोग [अपि] भी [वस्तुतत्त्वं] वस्तुस्वरूपको [अपि] और [स्वशक्तिं] अपनी शक्तिको [अधिगम्य] प्राप्त होकर अर्थात् शक्त्यनुसार [त्याज्यौ] छोड़ने योग्य हैं।

भावार्थ—गृहस्थके भोगोपभोग पदार्थोंके निमित्तसे ही मोक्षकी अन्तरायभूत स्थाव-रोंकी[3] हिंसाका बंध होता है, इसलिये उसको टालनेके लिये वस्तुके स्वरूपको जानना चाहिये कि, कौनसी वस्तु अधिक पाप करनेवाली है और कौनसी कम. यह जाननेके पश्चात् अपनी सामर्थ्यका विचार व अनुमान करके तदनुकूल भोगोपभोगका त्याग करना चाहिये।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्॥ १६२॥

अन्वयार्थौ—[ततः] क्योंकि [एकं] एक साधारण देह कन्दमूलादिकको [अपि] भी [प्रजिघांसुः] घातनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष [अनन्तानि] अनन्त जीव [निहन्ति] मारता है. [अतः] अतएव [अशेषाणां] सम्पूर्ण ही [अनन्तकायानां] अनन्त का-योंका [परिहरणं] परित्याग [अवश्यं] अवश्यही [करणीयम्] करना चाहिये।

भावार्थ—साधारण वनस्पति तथा अन्य पदार्थ जो अनन्तकाय होते हैं, अभक्ष्य

१ जो वस्तु एकवार भोगी जावे उसे भोग कहते हैं. जैसे, भोजन, पान, गन्ध, पुष्पादिक.
२ जो वस्तु वारंवार भोगी जावे उसे उपभोग कहते हैं. जैसे, स्त्री, शय्या, आसन, वस्त्र, अलङ्कार, वाहनादि।
३ जीव दो प्रकारके होते हैं, एक **त्रस** दूसरे **स्थावर**. द्वीन्द्रियादि पंचेन्द्रियपर्य्यन्त **त्रस** और पृथि-व्यादि **स्थावर** कहलाते हैं. **स्थावर** जीव पांच प्रकारके होते हैं. पृथ्वी, अप, तेज, वायु, और

हैं. यहांपर यह दिखलाना उपयोगी होगा कि, साधारण वनस्पतिमें जीवोंकी संख्या कितनी रहती है. ग्रन्थान्तरोंमे इसका परिमाण नीचे लिखे अनुसार कहा है:—

"अदरख आदि साधारण वनस्पतियोंमें लोकके जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यात गुणें जीव प्रत्येक शरीरमें पाये जाते हैं, जिन्हें **स्कन्ध** कहते हैं. जैसे—अपना शरीर. इन स्कन्धोंमें असंख्यात लोक परिमित **अण्डर** पाये जाते हैं. जैसे—शरीरमें हाथ पाँव आदि. एक **अण्डर** में असंख्यात लोक परिमित **पुलवी** होते हैं. जैसे—हाथ पावोंमें अँगुलीं आदिक. एक **पुलवी**में असंख्यात लोक परिमित **आवास** होते हैं, जैसे—अंगुलियोंमें तीन भाग. एक **आवास**में असंख्यात लोक परिमित **निगोदशरीर** होते हैं. जैसे—अंगुलियोंके भागोंमें रेखायें. और फिर एक **निगोदशरीर**में सिद्धसमूहसे अनन्त गुणें जीव पाय जाते हैं. जैसे-रेखाओंमें अनेक प्रदेश"

इसप्रकार एक साधारण हरित वनस्पतिके टुकड़ेमें संख्यातीत जीवोंका अस्तित्व रहता है. जिनका कि जिव्हाके स्तोक (थोड़ेसे) स्वादकेलिये विषयी जीव घातकर डालते हैं! विचारवान् पुरुषोंको ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्॥ १६३॥

अन्वयार्थौ—[**च**] और [**प्रभूतजीवानां**] बहुत जीवोंका [**योनिस्थानं**] उत्पत्तिस्थानरूप [**नवनीतं**] नवनीत अर्थात् मक्खन [**त्याज्यं**] त्याग करने योग्य है, [**वा**] अथवा [**पिण्डशुद्धौ**] आहारकी शुद्धतामें [**यत्किञ्चित्**] जो कुछ वस्तु [**विरुद्धं**] विरुद्ध [**अभिधीयते**] कही गई है, [**तत्**] वह [**अपि**] भी त्याग करने योग्य है।

भावार्थ—दहीमेंसे निकाले हुए मक्खनका यदि तत्काल ही अग्निपर तपाकर घृत नहीं बना लिया जावे, तो वह मक्खन दो ही मुहूर्तके पश्चात् अनन्त जीवरूप हो जाता है. अर्थात् उसमें अपरिमित जीव पैदा हो जाते हैं. इसलिये व्रती गृहस्थको इसका त्याग अवश्य

वनस्पति. इनमेंसे वनस्पतिके दो भेद हैं, **साधारण** और **प्रत्येक. साधारण** उसे कहते हैं, जिसके एक शरीरमें अनन्त जीव पाये जाते हैं और **प्रत्येक** उसे कहते हैं, जिसके एक शरीरमें एक ही जीव पाया जावे. फिर इस **प्रत्येकवनस्पति**के भी दो भेद होते है. एक **सप्रतिष्ठित** दूसरा **अप्रतिष्ठित. प्रत्येक वनस्पति** जब निगोदसहित होती है, तब **सप्रतिष्ठित** और जब निगोदरहित रहती है, तब **अप्रतिष्ठित** कहलाती है. दूब, वेल, छोटे वड़े वृक्ष व कन्दादि ऐसी वनस्पतियाँ जिनमें लम्बी रेखायें, गाठें (ग्रन्थि), संधिये दृष्टिगोचर न हों, अथवा जो काटनेके पश्चात् पुनः उत्पन्न होसकें, जिनके तन्तु न होवें, अथवा जिनमें तोड़नेपर तन्तु न लगे रहें, **सुप्रतिष्ठित** कहलाती हैं. और जिनमें रेखा, गांठें. संधियें प्रत्यक्ष दिखलाई देवें, जो काटनेके पश्चात् फिर न ऊग सकें, जिनके तन्तु होवें, तोडनेपर तन्तु लगे रहें, उन्हें **अप्रतिष्ठित** कहते हैं. उपर्युक्त **सप्रतिष्ठित प्रत्येक** वनस्पतिको **साधारण** भी कहते है. इस साधारण वनस्पतिमें अनन्त जीव पाये जाते हैं, इस कारण इसे **अनन्तकाय** कहते हैं।

ही करना चाहिये. और आचार शास्त्रोंमें जिन पदार्थोंको अभक्ष्य बतलाया है, उनका भी त्याग करना चाहिये. जैसे—चर्मस्पर्शित घृत, तैल, जल, हिंग्वादि तथा दुग्ध, दधि, मिष्टान्न, अनछानापानी, विना जाना फल, घुना वीधा अन्न, बाजारका आटा, अचार अथाना—संधाना) मुरब्बा आदि।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थौ—[धीमता] बुद्धिवान् पुरुष करके [निजशक्ति] अपनी शक्तिको [अपेक्ष्य] देखकर [अविरुद्धाः] अविरुद्ध [भोगाः] भोग [अपि] भी [त्याज्याः] त्याग देने योग्य हैं, और जो [अत्याज्येषु] उचित भोगोपभोगोंके त्याग न हो सकें तो उनमें [अपि] भी [एकदिवानिशोपभोग्यतया] एक दिन रातकी उपभोग्यतासे [सीमा] मर्यादा [कार्या] करना चाहिये।

भावार्थ—मोक्षाभिलाषी पुरुषको अपने पदस्थके विरुद्ध समस्त बाह्य पदार्थ त्यागने योग्य हैं, अतएव जिस प्रकार वह अयोग्य पदार्थोंका त्याग करता है, उसी प्रकार अपनी शक्त्यनुसार योग्य पदार्थोंका भी त्याग करै. यदि कदाचित् योग्यपदार्थोंके छोडनेमें समर्थ न हो, तो उन पदार्थोंको नियमित मर्यादा करके दिन दो दिनकेलिये अवश्य ही छोडा करै।

त्याग दो प्रकारके होते हैं, एक यमरूप दूसरे नियमरूप. किसी पदार्थके यावज्जीव त्यागको यम और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, अयन, वर्षादिककी मर्यादारूप त्यागको नियम कहते हैं. अयोग्य भोगोपभोगोंका त्याग यावज्जीव अर्थात् यमरूप किया जाता है और यदि शक्ति हो, तो योग्य भोगोपभोगोंका त्याग भी यमरूप किया जाता है; परन्तु

---

१ कच्चा दूध अन्तर्मुहूर्तके उपरान्त अपेय (नहीं पीने योग्य) है.

२ चौवीस घंटेके पश्चात् दही अभक्ष्य है.

३ अधिक समय वीत जानेसे मिष्टान्नमें सूक्ष्म लट (जीवविशेष) पड़ जाते हैं.

४ जिसमेंसे सूर्यका प्रतिविम्ब नहीं दिखाई देवे, ऐसे सघन (गाढे) कपडेके वत्तीस अंगुल लम्बे और चौवीस अंगुल चौडे छन्ने (नातने)को दुहरा करके जल छानना चाहिये, छने हुए पानीकी मर्यादा यदि बढ़ाना हो, तो उसे उष्ण गर्म करके अथवा लवंगादि तीक्ष्ण पदार्थ डालके बढ़ा सक्ते हैं. नहीं तो प्रत्येक मुहूर्तके पश्चात् छानके पीना चाहिये।

५ नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥
भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥ ८८ ॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥ ८९ ॥ (र० क० श्रा०)

जब योग्य भोगोपभोगोंमें यमरूप त्यागकी शक्ति नहीं होती है, तब दिवस पक्षादिकके प्रमाणसे नियमरूप त्याग ग्रहण किया जाता है, जैसे–

"परस्त्री यावज्जीव त्याज्य है और मोक्षाभिलाषीको स्वस्त्री भी यावज्जीव त्याज्य है, किन्तु जो पुरुष मोहके उदयसे स्वस्त्रीके छोडनेमें असमर्थ हैं, उन्हें चाहिये कि, ऋतुदिवसों[1] में स्वस्त्रीका नियमरूप त्याग अवश्य ही करें" इसी प्रकार समस्त भोगोपभोग्यपदार्थोंमें यम नियमरूप त्याग किया जाता है।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थौ—[पूर्वकृतायां] प्रथम की हुई [सीमनि] सीमामें [पुनः] फिर [अपि] भी [तात्कालिकीं] उसी समयकी अर्थात् विद्यमान समयकी [निजां] अपनी [शक्तिं] शक्तिको [समीक्ष्य] विचार करके [प्रतिदिवसं] प्रतिदिन [अन्तरसीमा] अन्तरसीमा अर्थात् सीमामें भी थोडी सीमा [कर्तव्या] करने योग्य [भवति] है।

भावार्थ—पहिले किये हुए भोगोपभोग परिमाणमें अपनी शक्तिके अनुसार मर्यादामें भी मर्यादा करना चाहिये; और उसका यथाशक्ति अर्थात् जितना बन सके, उतना पालन करना चाहिये. गृहस्थ जो प्रतिदिन नियम ग्रहण करते हैं, उन्हें अन्तरसीमावर्ती[2] नियम कहते हैं।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो गृहस्थ [इति] इसप्रकार [परिमितभोगैः] मर्यादारूप भोगोंसे [सन्तुष्टः] तृप्त होकर [बहुतरान्] अधिकतर [भोगान्] भोगोंको [त्यजति] छोड़ देता है, [तस्य] उसका [बहुतरहिंसाविरहात्] बहुत हिंसाके त्यागसे [विशिष्टा अहिंसा] उत्तम अहिंसाव्रत [स्यात्] होता है।

भावार्थ—जो श्रावक पूर्वोक्त प्रकारसे भोगोपभोगोंका त्याग निरन्तर किया करता है, उसके लोभ कषायके त्यागसे संतोषका आविर्भाव होता है और भोगोंके कारण होनेवाली हिंसाका उन भोगोपभोगोंके साथ सहज ही त्याग होता है. इसप्रकार अहिंसाव्रतका उत्कर्ष होता है।

---

१ निशा षोडश नारीणामृतुः स्यात्तासु चादिमा।
तिस्रः सर्वैरपि त्याज्या प्रोक्तास्तुर्यापि केनचित् ॥

अर्थात्—स्त्रियोंका ऋतुकाल सोलह रात्रि होता है, उसमेंसे आदिकी तीन रात्रि तो सबने ही त्याज्य कही हैं किसी २ आचार्य ने चौथी रात्रि भी त्याज्य कही है।

२ निम्नलिखित सत्रह अन्तरसीमावर्ती नियम गृहस्थको निरन्तर ग्रहण करना चाहिये—
भोजने षट्रसे पाने कुङ्कुमादिविलेपने। पुष्पताम्बूलगीतेषु नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥ १ ॥
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने। सचित्तवस्तुसंख्यादौ प्रमाण भज प्रत्यहं ॥ २ ॥

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥ १६७॥

अन्वयार्थौ—[दातृगुणवता] दाताके गुणयुक्त गृहस्थकरके [जातरूपाय अतिथये] दिगम्बर अतिथिकेलिये [स्वपरानुग्रहहेतोः] आप और दूसरेके अनुग्रहकेहेतु [द्रव्यविशेषस्य] विशेषद्रव्यका अर्थात् देनेयोग्य वस्तुका [भागः] भाग [विधिना] विधिपूर्वक [अवश्यं] अवश्य ही [कर्तव्यः] कर्तव्य है।

भावार्थ—"विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः" तत्वार्थाधिगमके इस सूत्रानुसार विधि, दाता, द्रव्य, पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता होती है. अतएव उत्तम दाताको चाहिये कि, उत्तम पात्रको उत्तम आहार उत्तम विधिपूर्वक देवे. इसप्रकारका दान अपने और दूसरेके उपकारके लिये होता है, क्योंकि दाताको उत्तम पात्रके दानसे विशिष्ट पुण्यका बंध होता है, तथा पात्रको अर्थात् लेनेवालेको ज्ञान संयमादिकी वृद्धिरूप लाभ होता है. और ये ही दोनोंके उपकार हैं. आये हुए अभ्यागतके निमित्त प्रतिदिन भोजनादिकका दान करके पश्चात् आप भोजन करै, यह श्रावकका नित्यकर्म है, इसे अतिथिसंविभाग कहते हैं।

सङ्ग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥ १६८॥

अन्वयार्थौ—[च] और [सङ्ग्रहं] प्रतिग्रहण [उच्चस्थानं] ऊंचा स्थान देना [पादोदकं] चरणधोना, [अर्चनं] पूजन करना [प्रणामं] नमस्कार करना [वाक्कायमनःशुद्धिः] मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि रखनी [च] और [एषणशुद्धिः] भोजनशुद्धि. आचार्यगण इस प्रकार [विधिं] नवधाभक्तिरूप विधिको [आहुः] कहते हैं।

भावार्थ—उत्तम पात्रोंको उक्त नव प्रकारकी भक्तिसे दान देना चाहिये, तथा सामान्य पात्रोंको अपने और उनके गुणोंका विचार कर यथोचित विधिसे दान देना चाहिये, किन्तु अपात्रोंमें प्रतिग्रहण आदि कुछ भी न करना चाहिये, क्योंकि विषयकषाययुक्त अश्रद्धानी पापी जीवोंके आदरमें पापकी अनुमोदना होनेसे पापबंध होता है. हां! अपात्र जीवोंको पीड़ित देखो, तो दयाभाव करके उन्हें पीड़ासे मुक्त अवश्य ही कर दो।

---

१ उत्पन्न होनेके समय जिसरूपमें था, वैसा. अर्थात् दिगम्बर अथवा पात्रके उत्तम गुणोंसे युक्त अतिथि.
२ जिनका आगमन तिथिके नियमरहित होता है अर्थात् जो नियमित तिथिको नहीं आते ऐसे अभ्यागत.
३ सत्कारपूर्वक अपने गृहमें अतिथिका प्रवेश कराना.
४ विनयसेवायुक्त परिणाम रखना.
५ विनयपूर्वक बोलना.
६ शरीरसे यथायोग्य सेवा करना.

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥

अन्वयार्थौ—[ऐहिकफलानपेक्षा] इस लोक सम्बन्धी फलकी अपेक्षारहितता, [क्षान्तिः] क्षमा, [निष्कपटता] निष्कपटता, [अनसूयत्वं] ईर्षारहितता, [अविषादित्वमुदित्वे] अखिन्नभाव, हर्षभाव और [निरहङ्कारित्वं] निरभिमानता, [इति] इसप्रकार ये सात [हि] निश्चय करके [दातृगुणाः] दाताके गुण हैं ।

भावार्थ—दाता इन सात गुणोंके सहित होना चाहिये. दातामें इन गुणोंकी न्यूनता होनेसे दानके फलमें भी तदनुकूल न्यूनाधिकता होती है ।

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥ १७० ॥

अन्वयार्थौ—[यत्] जो [द्रव्यं] द्रव्य [रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं] राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिक [न कुरुते] नहीं करता है, [तत्] वह [सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरं] उत्तम तप तथा स्वाध्यायकी वृद्धि करनेवाला द्रव्य [एव] ही [देयं] देने योग्य है ।

भावार्थ—रागादिभावोंके उत्पन्न करनेवाले मन्दिर, हाथी, घोडा, सोना, चांदी, शस्त्रादि पदार्थ तथा कामोद्दीपनादि विकार उत्पन्न करनेवाले स्त्री वादित्रादि पदार्थ दान देने योग्य नहीं हैं. क्योंकि, इन वस्तुओंके निमित्तसे दान लेनेवाला जीव स्वतः पापबंध करता है और जिसका कि सहायक कारण होनेसे देनवाला भी तज्जनित पापका भागी होता है, अतएव दानमें ऐसे पदार्थ देना चाहिये, जो विकारभावोंको उत्पन्न न करें और तपश्चरणादि वृद्धिंगत करनेवाले होवें. जैसे क्षुधानिवारणकेलिये आहारदान, रोगशमनकेलिये औषधदान, अज्ञाननिरसन करनेकेलिये शास्त्रदान और भय मिटानेकेलिये अभयदान ।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थौ—[मोक्षकारणगुणानां] मोक्षके कारणरूप गुणोंका अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणोंका [संयोगः] संयोग जिसमें हो, ऐसा [पात्रं] पात्रसमूह [अविरतसम्यग्दृष्टिः] अविरत सम्यग्दृष्टी [च] तथा [विरताविरतः] देशव्रती [च] और [सकलविरतः] महाव्रती [त्रिभेद] तीन भेदरूप [उक्तं] कहा है ।

भावार्थ—जो दान लेनेवाले पुरुष रत्नत्रययुक्त होवें, वे पात्र कहलाते हैं. उनके तीन भेद हैं. उत्तमपात्र, मध्यमपात्र और जघन्यपात्र, इनमेंसे सकलचारित्रके धारण

करनेवाले सम्यक्त्वयुक्त मुनि उत्तमपात्र, देशचारित्रयुक्त सचित्तके त्यागी श्रावक मध्यम-पात्र, और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं ।

विशेष—ऊपर कह चुके हैं कि, पात्रको जिस भावसे दान दिया जाता है, दाता वैसे ही फलका भागी होता है. और यह पात्रव्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंकी अपेक्षासे होता है; सो इनके धारण करनेवालोंको तो यथायोग्य आदर सत्कारसे देना चाहिये और इनके अतिरिक्त अन्यदुःखी पीड़ित जनोंको दयाभावसे दान देना चाहिये[1] ।

हिंसायाः पर्य्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थौ—[यतः] क्योंकि [अत्र दाने] इस दानमें [हिंसायाः] हिंसाकी [पर्य्यायः] पर्यायी [लोभः] लोभ [निरस्यते] नाश किया जाता है, [तस्मात्] अत-एव [अतिथिवितरणं] अतिथिदान [हिंसाव्युपरमणं एव] हिंसाका त्याग ही [इष्टं] कहा है ।

भावार्थ—लोभका त्याग किये विना दान नहीं हो सक्ता और पहिले कह आये हैं कि, लोभ हिंसाका रूप है, अतएव दानमें लोभका त्याग होनेसे हिंसाका भी त्याग सिद्ध होता है ।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो गृहस्थ [गृहमागताय] घरपर आये हुए [गुणिने] संयमादि गुणयुक्त और [मधुकरवृत्त्या] भ्रमरके समान वृत्तिसे [परान्] दूसरोंको [अपीडयते] पीडा नहीं देनेवाले [अतिथये] अतिथि–साधुकेलिये [न वितरति] भोजनादिक नहीं देता है, [सः] वह [लोभवान्] लोभी [कथं] कैसे [न हि] नहीं [भवति] है?

भावार्थ—जैसे भ्रमर (भौंरा) फूलोंको किसीप्रकार हानि न पहुँचाकर केवल उनकी सुगन्धि लेता है; उसीप्रकार रत्नत्रय मंडित परमवैरागी मुनि दाताको किसी प्रकार

---

१ उक्तं च रयणसारे—सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाण सोहंवा ।
लोहीणं दाणं जइ विमाण सोहा सवस्स जाणेह ॥
संस्कृतच्छाया—सत्पुरुषाणां दानं कल्पतरूणां फलानि शोभा वा ।
लोभीनां दानं यथा विमानशोभा शवस्य जानीहि ॥

अर्थात्—सत्पुरुषोंका दान देना तो कल्पवृक्षके समान है. जिससे शोभा होती है और मनोवांछित फल भी प्राप्त होते हैं. विपरीति इसके लोभीका दान देना मुर्दाके विमान समान है. जिससे शोभा तो होती है, परन्तु गृहस्वामीको छाती कूटना पड़ती है. अर्थात् लोभी पुरुष जब दान देता है, तब उसकी प्रशंसा तो होती है, परन्तु उस दानका फल कुछ भी नहीं होता. लोभी द्रव्यके जानेसे झूरता है ।

कष्ट न पहुँचाकर किंचिन्मात्र आहार करते हैं. सो ऐसे मुनिको भी जो श्रावक आहार नहीं देता है, वह अवश्य ही लोभी है।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥ १७४॥

अन्वयार्थौ—[आत्मार्थं] अपने लिये [कृतं] बनाये हुए [भक्तं] भोजनको [मुनये] मुनिकेलिये [ददाति] देवै, [इति] इसप्रकार [भावितः] भावपूर्वक [अरतिविषादविमुक्तः] अप्रेम और विषादसे रहित तथा [शिथिलितलोभः] लोभको शिथिल करनेवाला [त्यागः] दान [अहिंसा एव] अहिंसा स्वरूप ही [भवति] होता है।

भावार्थ—जो वस्तु अपने प्रयोजनसे बनाई जाती है, वह यदि दूसरेको देना पड़े तो उससे अप्रीति, खिन्नता और लोभ उत्पन्न होता है. अतएव यहांपर अपने निमित्तका निर्देशकर प्रस्तुत (तयार) किया हुआ भोजन मुनीश्वरोंको देना चाहिये; ऐसा कहा है. क्योंकि ऐसा करनेसे पूर्वोक्त भावोंकी अनुत्पत्तिमें अर्थात् अरति, खेद न होनेसे दान अहिंसाव्रत होता है।

इस अतिथिसंविभागमें परजीवोंका दुःख दूर करनेसे द्रव्यअहिंसा तो प्रगट ही है. रही भावित अहिंसा, सो वह लोभ कषायके त्यागकी अपेक्षासे जानना चाहिये।

इति द्वादशव्रतकथनम्.

अथ सल्लेखनाधर्मव्याख्यानमाह.

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुं।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या॥ १७५॥

अन्वयार्थौ—[इयम्] यह [एका एव] एक ही सल्लेखना [मे] मेरे [धर्मस्वं] धर्मरूपी धनको [मया] मेरे [समं] साथ [नेतुं] ले चलनेको [समर्था] समर्थ है. [इति] इस प्रकार [भक्त्या] भक्तिकरके [पश्चिमसल्लेखना] मरणांत सल्लेखना [सततम्] निरन्तर [भावनीया] भावना चाहिये।

भावार्थ—मरण दो प्रकारका होता है. एक **नित्यमरण** और दूसरा **तद्भवमरण.** आयुश्वासोच्छ्वासादिक दश प्राणोंका जो समय २ पर वियोग होता है उसे **नित्यमरण** और ग्रहीतपर्य्याय अथवा जन्मके नाश होनेको **तद्भवमरण** अथवा मरणान्त कहते हैं. इस मरणान्त समयमें सल्लेखनाका चिंतवन इस प्रकार करना चाहिये, कि इस मनुष्य देह-

---

१ सत्=सम्यक् प्रकारसे लेखना=कायकषायके कृश (क्षीण) करनेको **सल्लेखना** कहते हैं. यह अभ्यन्तर और बाह्य दो भेदरूप है, कायके कृश करनेको बाह्य और आन्तरिक क्रोधादि कषायोंके कृश करनेको अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं।

रूपी देशमें अणुव्रतरूपी व्यापारकरके जो धर्मरूपी धन कमाया है, उसे परलोकरूपी देशान्तरमें ले जानेकेलिये सल्लेखना ही एक मात्र आधार है. जैसे किसी देशमें कमाये हुए धनकी यदि कोई मनुष्य वहांसे कूच करते समय सुधि न करै और किसी दूसरेको सोंप जावे, तो उसका वह धन प्रायः व्यर्थ ही जाता है; इसी प्रकार परलोक यात्राके समयमें अर्थात् मरणान्तमें सल्लेखना न की जावे और परिणाम भ्रष्ट हो जावें, तो दुर्गति हो जाती है. इसलिये मरणसमयमें सल्लेखना अवश्य ही अङ्गीकार करनी चाहिये ।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थौ—[**अहं**] मैं [**मरणान्ते**] मरणकालमें [**अवश्यं**] अवश्य ही [**विधिना**] शास्त्रोक्त विधिसे [**सल्लेखनां**] समाधिमरण [**करिष्यामि**] करूंगा, [**इति**] इस प्रकार [**भावनापरिणतः**] भावनारूप परिणतिकरके [**नागतमपि**] मरणकाल प्राप्त होनेके पहिले ही [**इदं**] यह [**शीलं**] सल्लेखनाव्रत [**पालयेत्**] पालना चाहिये ।

भावार्थ—सल्लेखना अर्थात् संन्यासका धारण अन्तकालमें होता है, परन्तु इस जीवकी आयु समय प्रतिसमय घटती ही जाती है, जिससे निदान मरण ध्रुव है, अतएव मृत्युके पहिले ही ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि "मैं मरण समयमें अवश्य ही संन्यास धारण करूंगा" इस प्रतिज्ञाकी अपेक्षासे उक्त सल्लेखनाव्रत पहिलेसे ही पालित समझा जावेगा ।

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थौ—[**अवश्यं**] अवश्य ही [**भाविनि**] होनहार [**मरणे 'सति'**] मरणके होते हुए [**कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे**] कषाय सल्लेखनाके कृशीकरण मात्रव्यापारमें [**व्याप्रियमाणस्य**] प्रवर्त्तमान पुरुषके [**रागादिमन्तरेण**] रागादिक भावोंके असद्भावसे [**आत्मघातः**] आत्मघात [**नास्ति**] नहीं है ।

भावार्थ—शरीरस्वभावके विकाररूप चिन्होंसे तथा शुभाशुभसूचक निमित्तज्ञानकी शक्तिसे अपना मरणकाल जब निश्चित करलियाजाना है, तब ही संन्यासमरण अंगीकार किया जाता है और इसलिये इस समाधि अवस्थामें रागद्वेषमोहादिकोंका अभाव होनेसे संन्यास लेनेसे आत्मघातका दोष नहीं लग सक्ता. जिसप्रकार कोई बड़ा व्यापारी अपने घरमें आग लग जानेसे पहिले तो उसे बुझानेका प्रयत्न करता है, परन्तु जब बुझना अशक्य समझ लेता है, तब वह ऐसी युक्तिको काममें लाता है, कि, जिससे अपने हुंडीपत्रीके व्यवहार वचनमें किसी प्रकार बट्टा नहीं लगने पावे. ठीक इसी प्रकार शरीरमें व्याधि उत्पन्न

होनेपर मनुष्य उसे निर्दोष रीतिसे शमन करनेके लिये औषधादिक सेवन करता है, परन्तु जब व्याधिसे मुक्त होना अशक्य समझलेता है, तब संन्यास धारण करता है; जिससे अपना धर्म न विगड़ने पावे. सारांश—अन्तकाल निश्चित करके धर्मकी रक्षार्थ संन्यास धारण करना आत्मघात नहीं है।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः॥ १७८॥

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चयकरके [**कषायाविष्टः**] क्रोधादि कषायोंसे आवेष्टित [**यः**] जो पुरुष [**कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः**] स्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादिकोंसे अपने [**प्राणान्**] प्राणोंको [**व्यपरोपयति**] पृथक् कर देता है, [**तस्य**] उसके [**आत्मवधः**] आत्मघात [**सत्यं**] सचमुच [**स्यात्**] होता है।

भावार्थ—जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभके वश, अथवा इष्ट वियोगके खेद वश, तथा आगामी निदानके वश, अपने प्राणोंका अग्नि शस्त्रादिकोंसे घातकर डालते हैं, उन्हें आत्मघातका दोष लगता है. जैसे—पतिके पीछे स्त्रीका सती होना, हिमालयमें गलना, काशी करवत लेनी आदि. सन्यासपूर्वक मरण करनेवालोंको आत्मघातका दोष नहीं लगता।

विशेष—सल्लेखनाधर्म गृहस्थ और मुनि दोनोंका है, तथा सल्लेखना व संन्यास मरणका अर्थ भी एक है, इसलिये बारहव्रतोंके पश्चात् सल्लेखनाका निरूपण किया है. इस सल्लेखना व्रतकी उत्कृष्ट मर्यादा बारह वर्ष पर्यन्त है; ऐसा श्रीवीरनन्दिकृतयत्याचारमें कहा है।

जब शरीर किसी असाध्य रोगसे अथवा वृद्धावस्थासे असमर्थ हो जावे, देव मनुष्यादि कृत कोई दुर्निवार उपसर्ग उपस्थित हुआ होवे, किसी महा दुर्भिक्षसे धान्यादि भोज्य-पदार्थ दुष्प्राप्य हो गये होवें, अथवा धर्मके विनाश करनेवाले कोई विशेष कारण आ मिले होवें, तब अपने शरीरको पके हुए पानके समान तथा तैलरहित दीपकके समान स्वयमेव विनाशके सम्मुखजान सन्यासधारण करै. यदि मरणमें किसी प्रकारका सन्देह हो, तो मर्यादा पूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करै, कि जो इस उपसर्गमें मेरी मृत्यु हो जावेगी, तो मेरे आहारादिका सर्वथा त्याग है और जो कदाचित जीवन अवशेष रहेगा, तो आहारादिकका ग्रहण करूंगा, यह सन्यास ग्रहण करनेका क्रम है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् इस वाक्यके अनुसार शरीरकी रक्षा करना परम कर्त्तव्य है, क्योंकि धर्मका साधन शरीरसे ही होता है, इसलिये रोगादिक होनेपर यथाशक्ति औषधि करना चाहिये, परन्तु जब असाध्य रोग हो जावे और किसीप्रकारके उपचारसे लाभ न होवै, तब यह शरीर दुष्टके समान सर्वथा त्याग कर देने योग्य कहा है. और इच्छितफलका

देनेवाला धर्म विशेषतासे पालने योग्य कहा है, शरीर मृत्युके पश्चात् फिर भी प्राप्त होता है, परन्तु धर्म पालनेकी योग्यता पाना अतिशय दुर्लभ है. सुतरां विधिवत् देहोत्सर्गमें दुःखित न होकर संयमपूर्वक मनोवचनकायके व्यापार आत्मामें एकत्रित करना चाहिये, और "जन्म जरा मृत्यु शरीर सम्बन्धी है मेरे नहीं हैं" ऐसा चिंतवन कर निर्ममत्व होके विधिपूर्वक आहार घटाकर शरीर कृश करना चाहिये, तथा शास्त्रामृतके पानसे कषायोंको कृश करना चाहिये, पश्चात् चार प्रकारके संघको[1] साक्षीकरके समाधिमरणमें उद्यमवान् होना चाहिये।

अन्तकी आराधनासे चिरकालकी की हुई व्रतनियमरूप धर्माराधना सफल हो जाती है, क्योंकि इससे क्षणभरमें चिरसंचित पापका नाश हो जाता है और यदि अन्तमरण बिगड़ जावे अर्थात् असंयमपूर्वक मृत्यु हो जावे, तो पूर्वकृत धर्माराधना निष्फल हो जाती है. यहांपर यदि कोई पुरुष यह प्रश्न करै कि, "जो अन्तसमय समाधिमरण करलेनेसे क्षणमात्रमें पूर्व पापोंका नाश हो जाता है, तो फिर युवादि अवस्थाओंमें धर्म करनेकी क्या आवश्यकता है? अन्तसमय सन्यासधारण करलेनेसे ही सर्व मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे," तो उसका समाधान इस प्रकार होता है, कि "जो पुरुष अपनी पूर्व अवस्थामें धर्मसे पराङ्मुख रहते हैं, अर्थात् जिन्होंने व्रत नियमादि धर्माराधना नहीं की है, वे पुरुष अन्तकालमें धर्मके सम्मुख अर्थात् सन्यासयुक्त कभी नहीं हो सक्ते, क्योंकि "**चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः**"[2] चिरकालके अभ्याससे प्रेरित की हुई बुद्धि गुण और दोषोंमें जाती है. जो वस्त्र पहिलेसे उज्ज्वल होता है उसपर रंग चढ़ानेवाला मनोवांछित रंग चढ़ासक्ता है, परन्तु जो वस्त्र पहिलेसे मलीन होता है, उसपर प्रशस्त रंग कभी नहीं चढ़ाया जा सक्ता. अतएव सन्यासमरण वही धारण करसक्ता है, जो पहिली अवस्थासे ही धर्मकी आराधनामें दत्तचित्त रहाहो, हां! कहीं २ ऐसा भी देखा गया है कि, जिस पुरुषने जन्मभर धर्मसेवामें चित्त नहीं लगाया था, वह भी सन्यासपूर्वक मरण करके स्वर्गादि सुखोंको प्राप्त हो गया; परन्तु यह **काकतालीयन्यायवत्**[3], अति कठिन है. इसलिये जिनवचनोंके श्रद्धानी पुरुषोंको उक्त शंकाको अपने चित्तमें कभी स्थान न देना चाहिये।

सन्यासार्थी पुरुषको चाहिये, कि जहां तक बने जिन भगवानकी जन्मादि तीर्थ भूमियोंका आश्रय ग्रहण करै और यदि तीर्थभूमिकी प्राप्ति न हो सके, तो मन्दिर अथवा संयमी जनोंके आश्रयमें रहै. सन्यासार्थी तीर्थके जाते समय सबसे क्षमाकी याचना करै और आपभी मन

---

१ मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका.

२ चंद्रप्रभचरिते प्रथमसर्गे.

३ ताड़ वृक्षमेंसे अचानक फलका टूटना और उड़ते हुए काकको आकाशमें ही प्राप्त होजाना जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार संस्कारहीन पुरुषका समाधि मरण पाना कठिन है.

वचन काय पूर्वक सब प्राणियोंसे क्षमा करै. अन्तसमय क्षमा करनेवाला संसारका पारगामी होता है और वैर विरोध रखनेवाला अर्थात् क्षमा न रखनेवाला अनन्त संसारी होता है. सन्यासार्थी पुरुषको पुत्रकलत्रादिक कुटम्बियोंसे तथा सांसारिक संपदाओंसे सर्वथा मोह छोड़ देना चाहिये, परन्तु उत्तम साधक पुरुषोंकी सहायता अवश्य लेनी चाहिये, क्योंकि सहधर्मी तथा आचार्योंकी सहायतासे अशुभकर्म यथेष्ट विघ्न करनेको समर्थ नहीं हो सक्ते. व्रतके अतीचारोंको सहधर्मियोंके अथवा आचार्यके सम्मुख प्रगट कर निःशल्य होकर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तोक्त विधियोंसे शोधन करना चाहिये ।

निर्म्मलभावरूप अमृतासिंचित समाधिमरणकेलिये पूर्व तथा उत्तर दिशाकी ओर मस्तक आरोपित करै, यदि श्रावक महाव्रतकी याचना करै, तो निर्णायक आचार्यको उचित है, कि उसे महाव्रत देवे. महाव्रतके ग्रहणमें नग्न होना चाहिये. अर्जिकाको भी अन्तकाल उपस्थित होनेपर एकान्त स्थानमें वस्त्रोंका त्याग करना उचित कहा है, साँथरेके समय नानाप्रकारके योग्य आहार दिखाकर भोजन करावै और जो उसे अज्ञानतावश भोजनमें आशक्त समझे, तो परमार्थज्ञाता आचार्यको चाहिये, कि उसे अपने प्रभावशाली व्याख्यानके द्वारा इस प्रकार समझावै, कि—

हे जितेन्द्रिय! तू भोजन शयनादिरूप कल्पित पुद्गलोंको अब भी उपकारी समझता है? और यह जानता है, कि इनमेंसे कोई पुद्गल ऐसे भी हैं, जो मैंने भोगे नहीं है! यह बड़े आश्चर्यकी बात है. भला! सोच तो सही, कि ये मूर्तिवन्त पुद्गल तुझ अरूपीमें किसी प्रकार मिल भी सक्ते हैं? तूने इन्हें केवल इन्द्रियोंसे ग्रहणपूर्वक अनुभवनकर यह जान रक्खा है, कि मैं ही इनका भोग करता हूं. सो हे दूरदर्शी! अब यह भ्रान्तबुद्धि सर्वथा छोड़ दे और आत्मतत्त्वमें लवलीन हो. यह वह समय है, जिसमें ज्ञानी जीव शुद्धतामें सावधान रहते हैं और चिन्तवन करते हैं, कि मैं अन्य हूं और ये पुद्गल मुझसे सर्वथा भिन्न अन्य ही पदार्थ हैं. इसलिये हे महायश! परद्रव्योंसे मोहछोड़करके अपने आत्मामें स्थिर रहनेका प्रयत्न कर. यदि किसी पुद्गलमें आशक्त रहकर मरण पावेगा, तो स्मरण रखना, कि तुझे क्षुद्र जन्तु होकर उस पुद्गलका भक्षण अनन्तबार करना पड़ेगा! इस भोजनसे जो तू शरीरका उपकार करना चाहता है, सो किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि शरीर ऐसा कृतघ्नी है, कि वह किसीके किये हुए उपकारको नहीं मानता. अतएव भोजनकी इच्छा छोड़ना ही बुद्धिमत्ता है ।

इसप्रकार हितोपदेशरूपी अमृतधाराके संपातसे अन्नकी तृष्णा दूर कर कवलाहार छुटा देना चाहिये, तथा दुग्धादि पेय वस्तु बढ़ाकर पश्चात् क्रमसे उष्णोदक (गरमजल) मात्रका नियम करादेना चाहिये. और यदि ग्रीष्मकाल, मरुदेश, तथा पैत्तिक प्रकृतिके कारण तृषाकी बाधा सहन करनेमें असमर्थ होवे, तो शीत पानी मात्र रखलेना चाहिये और शिक्षा देनी चाहिये,

कि हे आराधक आर्य! परमागममें प्रशस्त मारणान्तिक सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ वर्णन की गई है, इसलिये तुझे विचारपूर्वक अतीचारादि दूषणोंसे इसकी रक्षा करना चाहिये।

इसके पश्चात् अशक्तिताकी वृद्धि देखकर मृत्युकी सन्निकटता (नजदीकी) निश्चय होनेपर आचार्यको उचित है, कि समस्त संघकी अनुमतिसे सन्यासमें निश्चलताके निमित्त पानीका भी त्याग करा देवै. इस अनुक्रमसे चारों प्रकारके आहारका त्याग होनेपर समस्त संघसे क्षमा करावै और निर्विघ्न समाधिकी सिद्धकेलिये कायोत्सर्ग करै. तदुपरान्त वचनामृत संतर्पण करै, अर्थात् संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाले कारणोंका उक्त आराधकके कानमें मन्द २ वाणीसे जप करै, श्रेणिक वारिषेण, सुभगग्वालादि पुरुषोंके दृष्टान्त सुनावे और व्यवहार आराधनामें स्थिर होकर निश्चय आराधनाकी तत्परताकेलिये इस प्रकार उपदेश करै कि:—

हे आराधक! "सुत कंधकाए गोमे सस्सदो आदा" इत्यादि वाक्य, "णमो अरहंताणं" इत्यादि पद, और 'अर्हं' इत्यादि अक्षर इनमेंसे जो तुझे रुचिकर हों, उनका आश्रयकरके अपने चित्तको तन्मय कर!, हे आर्य! "रागोमेसस्सदो अप्पा" इस श्रुत ज्ञानसे अपने आत्माका निश्चय कर! स्वसंवेदनसे आत्माकी भावना कर! समस्त चिन्ताओंसे पृथक् हो, प्राणविसर्जन कर! और यदि तेरा मन किसी क्षुधादि परीषहसे अथवा किसी उपसर्गसे विक्षिप्त होगया होवे, तो नरकादि वेदनाओंका स्मरण करके ज्ञानामृतरूप सरोवरमें प्रवेशकर! क्योंकि, अज्ञानी-जीव शरीरमें आत्मबुद्धिसे 'मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, ऐसा सङ्कल्प करके दुःखी हुआ करते हैं, परन्तु भेदविज्ञानी जीव आत्मा और देहको भिन्न २ मानकर देहके सुखसे सुखी व दुःखसे दुःखी नहीं होता, और विचार करता है, कि मेरे मृत्यु नहीं है, तो फिर भय किसका? मेरे रोग नहीं है, फिर वेदना कैसी? मैं बालक नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूं, तरुण नहीं हूं, फिर मनोवेदना कैसी? और हे महाभाग्य! इस थोड़ेसे शारीरिक दुःखसे कायर होके प्रतिज्ञाच्युत न होना! दृढ़ चित्तहोके परम निर्ज्जराकी वांछा करना!, देख! जबतक तू आत्माका चिन्तवन करता हुआ, सन्यास ग्रहण करके साँथरेपर स्थित है, तबतक क्षण क्षणमें तेरे प्रचुर कर्मोंका विनाश होता है! क्या तुझे धीर वीर पांडवोंका चरित्र विस्मृत हो गया? जिन्हें लोहके आभरण अग्निसे तप्त करके शत्रुने पहिनाये थे, परन्तु तपस्यासे किंचित भी च्युत न होकर आत्मध्यानसे मोक्षगत हुएथे! क्या तूने महा-सुकुमार सुकमाल कुमारका चरित्र नहीं सुना? जिनका शरीर दुष्टा स्यालनीने थोड़ा २ करके अतिशय कष्ट पहुचानेकेलिये कई दिनमें भक्षण कियाथा, परन्तु किञ्चित भी मार्गच्युत न होकर जिन्होंनें केवल ज्ञान प्राप्त कियाथा! ऐसे और भी असंख्य उदाहरण शास्त्रोंमें मिलेंगे, जिनमें दुस्सह उपसर्गोंका सहन करके अनेक साधुओंने स्वार्थ सिद्धि की है. क्या तेरा यह कर्तव्य नहीं है, कि उनका अनुकरण करके जीवित धनादिकोंमें निर्वांछक

हो, अन्तर बाह्य परिग्रहके त्यागपूर्वक साम्यभावसे निरुपाधिमें स्थिर हो, आनन्दामृतका पान करै ? इसके पश्चात् अर्थात् उपरि लिखित रीतिके उपदेशसे कषाय कृश करते हुए, रत्नत्रयभावनारूप परिणमनसे पंचनमस्कारमंत्र स्मरणपूर्वक प्राणविसर्जन करना चाहिये. यही सन्यासमरणकी संक्षिप्त विधि है।

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसां प्रसिद्ध्यर्थम् ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थौ—[यतः] क्योंकि [अत्र] इस सन्यास मरणमें [हिंसायाः] हिंसाके [हेतवः] हेतुभूत [कषायाः] कषाय [तनुतां] क्षीणताको [नीयन्ते] प्राप्त होते हैं, [ततः] तिस कारणसे [सल्लेखनां अपि] सन्यासको भी आचार्यगण [अहिंसां प्रसिद्ध्यर्थं] अहिंसाकी सिद्धिकेलिये [प्राहुः] कहते हैं।

भावार्थ—जहां कषायके आवेशयुक्त मन, वचन, कायके योगोंकी परणति होती है, वहां ही हिंसा है और कषायके कृशीकरणको सल्लेखना कहते हैं, अतएव सल्लेखनामें कषाय क्षीण होनेसे अहिंसाकी सिद्धि होती है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥ १८० ॥

अन्वयार्थौ—[यः] जो [इति] इस प्रकार [व्रतरक्षार्थं] पंचाणुव्रतोंकी रक्षाकेलिये [सकलशीलानि] समस्त[1]शीलोंको [सततं] निरन्तर [पालयति] पालता है, [तम्] उस पुरुषको [शिवपदश्रीः] मोक्षपदकी लक्ष्मी [उत्सुका] अतिशय उत्कण्ठित [पतिंवरा इव] स्वयंवर[2]की कन्याके समान [स्वयमेव] स्वयम् ही [वरयति] वरण करती है अर्थात् प्राप्त होती है।

भावार्थ—स्वयंवर मंडपमें जिसप्रकार कन्या आप ही अपने योग्य उत्तम पतिको शोध करके उसके कंठमें वरमाला डाल देती है, उसीप्रकार इस लोकमंडपमें मुक्तिरूपी कन्या अपने योग्य व्रतादि संयुक्त जीवको स्वयं अपना स्वामी बना लेती है अर्थात् वह जीव मुक्त होजाता है।

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थौ—[सम्यक्त्वे] सम्यक्त्वमें [व्रतेषु] व्रतोंमें और [शीलेषु] शीलोंमें

---

१ तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत और एक अन्तसल्लेखना.

२ पूर्वकालमें राजादिक वैभवशाली पुरुष अपनी कन्याओंके विवाहकेलिये स्वयम्वरमंडप बनाते थे और उसमें देश विदेशके राजाओंको बुलाते थे, उनमेंसे राजकन्या जिसको अच्छा समझती, उसे वरमाला पहिनाके अपना पति बना लेती थी.

[पञ्च पञ्चेति] पांच पांच इस क्रमसे [अमी] ये [सप्तति] सत्तर जो आगे कहे जाते हैं, [यथोदितशुद्धिप्रतिवन्धिनः] यथार्थ शुद्धिताके प्रतिवन्धक अर्थात् रोकनेवाले [अतिचाराः] अतीचार[1] [हेयाः] त्याग करने योग्य हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके ५, पांच अनुव्रतोंके पांच पांचके हिसावसे २५, दिग्व्रतादि सात शीलोंके[2] ३५, और सल्लेखनाके ५, इस प्रकार ७० अतीचार होते हैं; जिनका निरूपण आगेके श्लोकोंमें क्रमसे किया जावेगा. अतीचारोंका त्याग परमावश्यक है, क्योंकि इनसे व्रतादिक दूषित होते हैं ।

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थौ[3]—[शङ्का] सन्देह [काङ्क्षा] वांछा [विचिकित्सा] ग्लानि [तथैव] वैसे ही [अन्यदृष्टीनां] मिथ्यादृष्टियोंकी [संस्तवः] स्तुति [च] और [मनसा] मनसे [तत्प्रशंसा] उन मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना. [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके ये पांच [अतीचाराः] अतीचार हैं ।

भावार्थ—१ सर्वज्ञप्रणीत अनेकान्तात्मक मतमें सन्देह करना, इहलोक परलोक सम्बन्धी भोगोंकी इच्छा करनी, ३[4] अनिष्ट तथा दुर्गंधित वस्तुयें देखकर घृणा करनी ४ पाखंडी विधर्मियोंकी वचनसे स्तुति करनी और ५ उन्हींकी चित्तसे सराहणा करनी, ये सम्यक्त्वके पांच अतीचार हैं. अव यहांपर यह शंका उत्पन्न होती हैं, कि सम्यक्त्वके तो शंकादिक आठ मल हैं ही; जिनके प्रभावसे निर्मल सम्यक्त्व प्रसिद्ध होता है, यहां पर पांच क्यों कहे? सो इसका समाधान केवल इतना ही हैं, कि अन्यत्र जो आठ मल कहे

---

१ अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषा ।
तथातिचारं करणालसत्वं भङ्गो ह्यनाचारमिह व्रतानि ॥
(सागारधर्मामृतश्रावकाचारे)

भावार्थ—इन व्रतोंके अतिक्रम करनेरूप विकारसे मनशुद्धिमें मलिनताके प्रवेश होनेको **अतिक्रम**, विषयाभिलाषारूप मलिनताके प्रवेशको **व्यतिक्रम** कहते हैं, तथा इन व्रतोंके चारित्रमें आलस्य अर्थात् शिथिलता होनेको **अतीचार** और सर्वथा व्रतभङ्ग होनेको अर्थात् तोड देनेको **अनाचार** कहते हैं. सागारधर्मामृत श्रावकाचारके इस वचनसे चारित्रमें किंचिन्मात्र शिथिलता होनेको अतिचार कहते हैं. यह शिथिलता हर एक व्रतमें जितने भेदरूप होती है, वह क्रमसे वतलाई है. उन प्रत्येक भेदोंमें अतीचारका उक्त लक्षण भलीभांति घटित होता है, सो विचारपूर्वक घटा लेना चाहिये. अतिक्रम और व्यतिक्रम भी व्रतोंके दूषण हैं, परन्तु उनके भेद प्रभेद अतिशय सूक्ष्म होते हैं: अतएव उनका विवरण इस छोटेसे ग्रन्थमें नहीं किया जा सका.

२ यहां शीलोंमें सल्लेखनाका भी ग्रहण किया है.

३ शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः (त० सू० अ० ७ सू० २३)

४ स्नानादि वाह्यशुद्धिविवर्जित मुनियोंके मलिन शरीरको देखकर ग्लानिसे नासिकाभ्रूसङ्कोचनरूप क्रियाका भी यहां अभिप्राय है.

हैं, वे सब यदि विचारपूर्वक देखे जावें, तो इन पांचोंमें ही घटित होजावेंगे, ऐसा कोई अवशेष नहीं रहैगा, जो इन पांचोंमेंसे किसीमें गर्भित न हो, बुद्धिमानोंको चाहिये, कि वे विचारपूर्वक गर्भित कर देखें. जैसे अन्यदृष्टिकी प्रशंसा करनेमें मूढदृष्टि नामक सम्यक्त्वका अतीचार होता है, इसीप्रकार अन्य भी जानना चाहिये।

[1]छेदनताडनबन्धाः भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थौ—[अहिंसाव्रतस्य] अहिंसा व्रतके [छेदनताडनबंधाः] छेदना, ताड़न करना, बांधना, [समधिकस्य] अतिशय अधिक [भारस्य] बोझेका [आरोपणं] लादना, [च] और [पानान्नयोः] अन्नपानीका [रोधः] रोकना अर्थात् न देना [इति] इसप्रकार [पञ्च] पांच अतीचार हैं।

भावार्थ—किसी जीवका **छेदन** अर्थात् उसके हस्तपादादि अङ्ग अथवा नाक, कान आदि उपङ्ग काटना व छेदना, **ताडन** लकड़ी कोड़ा आदिसे मारना, **बंधन** स्वेच्छापूर्वक गमन करनेवालोंका रज्वादिकसे बांधना रोक रखना, **अतिभारारोपण** जीवधारी जितना बोझा उठा सके, उससे अधिक लाद देना और **अन्नपाननिरोध** अर्थात् खाने पीनेको न देकर उन्हें भूखे प्यासे रखना, ये अहिंसाव्रतके पांच अतीचार हैं. अर्थात् इनसे व्रतका एकोदेश भंग होकर अहिंसाव्रतमें दोष लगता है।

[2]मिथ्योपदेशदानं रहसोभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थौ—[मिथ्योपदेशदानं] झूठा उपदेश देना [रहसोभ्याख्यानकूटलेखकृती] एकान्तकी गुप्तवातका[3] प्रगट करना झूठा लिखना, [न्यासापहारवचनं] धरोहरके (थातीके) हरण करनेका वचन[4] कहना [च] और [साकारमन्त्रभेदः] कायकी चेष्टाओंसे जानकर दूसरेका अभिप्राय प्रगट कर देना ये पांच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं।

[5]प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणे च ॥ १८५ ॥

---

१ 'वधबन्धछेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः (त० सू० अ० ७ सू० २५)

२ मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः (त० सू० अ० ७ सू० २६)

३ स्त्रीपुरुषोंके एकान्तमें किये हुए कार्य.

४ कोई पुरुष कुछ द्रव्य धरोहर रखकरके अवधि वीत जानेपर फिर लेनेको आवे और धरोहर द्रव्यकी संख्या भूलकर थोड़ी मांगने लगे, तो उससे इस प्रकार कहना कि, जितना तू रख गया है लेजा. इस प्रकार जान बूझ करके पूरा द्रव्य न देना.

५ स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराजातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः (त०सू०अ० ७सू० २७).

अन्वयार्थौ—[प्रतिरूपव्यवहारः] प्रतिरूप व्यवहार अर्थात् चोखी वस्तुमें खोटी वस्तु मिलाकर वेचना, [स्तेननियोगः] चोरीमें नियोगदेना अर्थात् चोरी करनेवालेको सहायता देना, [तदाहृतादानं] चोरकेद्वारा हरण की हुई वस्तुका ग्रहण करना, [राजविरोधातिक्रमः] राजाके प्रचलित किये हुए नियमोंका उल्लङ्घन करना [च] और [हीनाधिकमानकरणे] नापने तौलनेके गज, वार, पाई, तराजू आदिके मान हीनाधिक करना. (एते पञ्चास्तेयव्रतस्य) ये पांच अचौर्यव्रतके अतीचार हैं ।

[1]स्मरतीव्राभिनिवेशाऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥ १८६ ॥

अन्वयार्थौ—[स्मरतीव्राभिनिवेशः] कामसेवनकी अतिशय लालसा रखना, [अनङ्गक्रीडा] योग्य अङ्गोंके अतिरिक्त अङ्गोंसे कामक्रीड़ा करना, [अन्यपरिणयनकरणं] अन्यका विवाह करना, [च] और [अपरिगृहीतेतरयोः] विना विवाही (अनूढ़ा) तथा उससे इतर अर्थात् विवाही हुई (ऊढ़ा) [इत्वरिकयोः] व्यभिचारिणी स्त्रियोंका [गमने] गमन (एते ब्रह्मव्रतस्य) ये ब्रह्मचर्यव्रतके [पञ्च] पांच अतीचार हैं ।

भावार्थ—व्यभिचारिणी स्त्री दो प्रकारकी होती हैं, एक तो अपरिगृहीता अर्थात् अनविवाही वेश्या दासी आदि, दूसरी परिगृहीता अर्थात् अन्यकी ग्रहण की हुई विवाहिता परकीया. सो इन दोनों प्रकारकी शीलभ्रष्ट स्त्रियोंके पास जाना, उनके स्तन कुक्षि जघनादि कामोत्तेजक अङ्गोंका देखना, तथा कुवचनालाप करके कुचेष्टा करना यह ब्रह्मचर्य्यव्रतका चौथा तथा पांचवा अतीचार है ।

[3]वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थौ—[वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनां] घर, भूमि, सोना, चांदी, धन, धान्य, दास दासियोंके और [कुप्यस्य] सुवर्णादिक धातुओंके अतिरिक्त वस्त्रादिकोंके [भेदयोः] दो २ भेदोंके [अपि] भी [परिमाणातिक्रियाः] परिमाणोंका उल्लङ्घन करना (एते अपरिग्रहव्रतस्य) ये अपरिग्रहव्रतके [पञ्च] पांच अतीचार हैं ।

भावार्थ—दो २ भेदोंके कहनेका तात्पर्य यह है, कि वास्तुक्षेत्रादिक आठके और कुप्यके दो २ करके पांच भेद करना अर्थात् १ घर भूमि, २ सोना चांदी, ३ धनधान्य,

---

१ परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः (त० सू० अ० ७ सू० २८)

२ पुंश्चलीवेश्यादासीनां गमनं जघनस्तनवदनादिनिरीक्षणसम्भाषणहस्तभ्रूकटाक्षादिसंज्ञाविधानं इत्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते (श्रीस्वामिकुमारानुप्रेक्षायाः श्रीशुभचन्द्राचार्यकृतसंस्कृतटीकायाम्)

३ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः (त० अ० ७ सू० २९)

४ सेवक सेवका, ५ रेशम और पाटके वस्त्र. इन प्रत्येकके परिमाणका उलंघन करनेसे पांच अतीचार होते हैं।

ऊर्द्धमधस्तात्तिर्य्यक्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थौ—[ऊर्द्धमधस्तात्तिर्यक्व्यतिक्रमाः] ऊपर, नीचे और समान भूमिके किये हुए प्रमाणका व्यतिक्रम करना अर्थात् जितना प्रमाण लिया हो उससे वाहिर चले जाना, [क्षेत्रवृद्धिः] परिमाण किये हुए क्षेत्रकी लोभादिके वश वृद्धि करना और [स्मृत्यन्तरस्य] स्मृतिके अतिरिक्त क्षेत्रकी मर्यादाका [आधानं] धारण करना. अर्थात् याद न रखना [इति] इस प्रकार [पञ्च] पांच अतीचार [प्रथमशीलस्य] प्रथमशीलके अर्थात् दिग्व्रतके [गदिताः] कहे गये हैं।

प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थौ—[प्रेपस्य संप्रयोजनं] प्रमाण किये हुए क्षेत्रसे वाहिर अन्यपुरुषको भेज देना, [आनयनं] वहांसे किसी वस्तुका मंगाना, [शब्दरूपविनिपातौ] शब्द सुनाना, रूप दिखाकर इशारे करना और [पुद्गलानां] कंकडपत्थरादिक [क्षेपोऽपि] फेंकना भी. [इति] इसप्रकार [पञ्च] पांच अतीचार [द्वितीयशीलस्य] दूसरे शीलके अर्थात् देशव्रतके कहे गये हैं।

कन्दर्प्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्य्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥ १९० ॥

अन्वयार्थौ—[कन्दर्प्पः] हास्यमिश्रित कामके वचन कहना, [कौत्कुच्यं] भंडरूप अयुक्त कायचेष्टा [भोगानर्थक्यं] भोगोपभोगके पदार्थोका अनर्थक्य [मौखर्य्यं] वाचालता [च] और [असमीक्षिताधिकरणं] विना विचारे कार्यका करना [इति] इस प्रकार [तृतीयशीलस्य] तीसरे शील अर्थात् अनर्थ दण्डव्रतके [अपि] भी [पञ्च] पांच अतीचार हैं।

भावार्थ—रागकी अधिकतासे निष्प्रयोजन हास्यरूप अशिष्ट बोलनेको कंदर्प, विकाररूप दूषित कायचेष्टा बनानेको कौत्कुच्य, भोगोपभोगके पदार्थ वहुत मोल देकर लेनेको

१ ऊर्द्धाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि (त० अ० ७ सू० ३०)
२ पर्वतादिकोंपर चढना.
३ कूपादिकोंमें नीचे उतरना.
४ विल, तहखाना, गुहादिकोंका प्रवेश.
५ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः (त० अ० ७ सू० ३१)
६ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यासमीक्षाधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि (त० अ० ७ सू० ३२)

भोगानर्थक्य व्यर्थ ही यद्वातद्वा वकनेको मौखर्य, और प्रयोजनसे अधिक विनाविचारे कार्य करनेको असमीक्षाधिकरण कहते हैं।

[1]वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य॥ १९१॥

अन्वयार्थौ—[**वचनमनःकायानां**] वचन, मन और कायकी [**दुःप्रणिधानं**] दुष्प्रवृत्ति, [**अनादरः**] अनादर [**च**] और [**स्मृत्यनुपस्थानयुताः**] स्मृत्यनुपस्थानसहित, [**इति**] इसप्रकार [**चतुर्थशीलस्य**] चौथे शील अर्थात् सामायिकव्रतके [**पञ्च**] पांच [**एव**] ही अतीचार हैं।

भावार्थ—सामायिक पढ़ते समय अशुद्ध पाठके उच्चारण करनेको **वचनदुःप्रणिधान**, अन्यपदार्थोंकी ओर मनके चलायमान करनेको **मनोदुःप्रणिधान**, शरीरके चलाचलरूप करनेको **कायदुःप्रणिधान**, सामायिक क्रिया उत्साहहीन होकर करनेको **अनादर** और 'यह पाठ मैंनें पढ़ा कि नहीं' ऐसी संशयरूप विस्मृतिको **स्मृत्यनुपस्थान** कहते हैं।

[2]अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य॥ १९२॥

अन्वयार्थौ—[**अनवेक्षिताप्रमार्ज्जितमादानं**] अनवेक्षित और अप्रमार्जित वस्तुका ग्रहण [**संस्तरः**] संस्तर [**तथा**] तथा [**उत्सर्गः**] मलमूत्र त्याग, [**स्मृत्यनुपस्थानं**] स्मृत्यनुपस्थान [**च**] और [**अनादरः**] अनादर ये [**उपवासस्य**] उपवासके [**पञ्च**] पांच अतीचार हैं।

भावार्थ—प्रोषधोपवास नामकव्रतमें पूजनकी सामग्री आदि विना शोधे तथा विना झाड़ेहुए लेनेको **अनवेक्षिताप्रमार्जितादान**, इसीप्रकार देखे विना झाड़े विना विछोंना करनेको **अनवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तर**, देखी हुई तथा शोधी हुई भूमिके विना मलमूत्रोत्सर्ग करनेको **अनवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग**, प्रोपधविधिके विधान भूल जानेको **स्मृत्यनुपस्थान** और भूख प्यासके क्लेशसे उपवासमें उत्साहहीनता होनेको **अनादर** कहते हैं।

[3]आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य॥ १९३॥

अन्वयार्थौ—[**हि**] निश्चय करके [**सचित्तः आहारः**] सचित्ताहार [**सचित्तमिश्रः**] सचित्तमिश्राहार [**सचित्तसम्बन्धः**] सचित्तसम्बन्धाहार [**दुष्पक्वः**] दुष्पक्काहार

---

१ योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि (त० अ० ७ सू० ३३)

२ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादारस्मृत्यनुपस्थापनानि (तत्त्वार्थ अ० ७ सू० ३४)

३ सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः (त० अ० सू० ३५)

[चापि] और [अभिषवः] अभिषवाहार. [अमी] ये [पञ्च] पांच अतीचार [षष्ठशीलस्य] छठवेंशील अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रतके हैं।

भावार्थ—चेतनायुक्त आहारको **सचित्ताहार**[1], सचित्तसे मिले हुए आहारको (जो पृथक् न किया जा सके) **सचित्तमिश्राहार**, सचित्तसे सम्बन्ध किये हुए अर्थात् स्पर्श किये हुए आहारको **सचित्तसम्बन्धाहार**, कष्टसे पकाया जा सके ऐसे गरिष्ठ आहारको **दुष्पक्वाहार**[2], और दुग्धघृतादिक रस मिश्रित कामोत्पादक आहारको **अभिषवाहार**[3] कहते हैं. इनके करनेसे भोगोपभोग परिमाणव्रतका एकदेश भंग होताहै. अर्थात् उक्त व्रतके ये पांच अतीचार हैं।

[4]परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थौ—[परदातृव्यपदेशः] परदातृव्यपदेश, [सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च] सचित्तनिक्षेप और सचित्तापिधान, [कालस्यातिक्रमणं] कालका अतिक्रम, [च] और [मात्सर्य्यं] मात्सर्य्य. [इति] इस प्रकार [अतिथिदाने] अतिथिसंविभागव्रतमें पांच अतिचार होते हैं।

भावार्थ—किसी कार्यके वश बहाना बनाकर दूसरेसे दान देनेकेलिये कहजानेको **परदातृव्यपदेश**, कमलपत्रादिक सचित्त वस्तुओंमें आहार रखनेको **सचित्तनिक्षेप**, सचित्त कमलादिकपत्रोंसे आहार ढंकनेको **सचित्तापिधान**, अतिथिके आहारका समय भूल जानेको **कालातिक्रम** और दाताओंसे ईर्षा करनेको अथवा उनकी प्रशंसा न सह सकनेको **मात्सर्य्य** कहते हैं।

[5]जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥ १९५ ॥

अन्वयार्थौ—[जीवितमरणाशंसे] जीविताशंसा, मरणाशंसा, [सुहृदनुरागः] सुहृदानुराग, [सुखानुबन्धः] सुखानुबन्ध [च] और [सनिदानः] सनिदान. [एते] ये [पञ्च] पांच अतीचार [सल्लेखनाकाले] समाधिमरणके समयमें [भवन्ति] होते हैं।

भावार्थ—असार शरीरकी स्थितिमें आदरवान् होके जीनेकी इच्छा करनेको जी-

---

१ भोगोपभोगपरिमाणव्रतीके सचित्ताहार अतिचार हैं, परन्तु सचित्तत्यागव्रतीके अनाचार हैं.

२ दुष्पक्वाहारका पाचन यथार्थ न होकर वातादि रोगप्रकोप तथा उदरपीड़ा होती है, जिससे असंयमकी वृद्धि होती है.

३ पौष्टिक आहारसे इन्द्रियमद बढतेहैं.

४ सचित्त निक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्य्यकालातिक्रमाः (त० अ० ७ सू० ३६)

५ जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि (त० अ० ७ सू० ३७)

वितार्शंसा, रोगादिककी पीड़ाके भयसे शीघ्र ही मरनेकी इच्छा करनेको **मरणाशंसा**, पूर्वमें मित्रोंके साथ की हुई आनन्ददायिनी क्रीड़ाके स्मरण करनेको **सुहृदानुराग**, पूर्वकृत नानाप्रकारके भोगोपभोग स्त्रीसुखादिकोंके चिन्तवन करनेको **सुखानुबन्ध** और भविष्यकालके भोगोंके वांछारूप चिन्तवनको **सनिदान** कहते हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्॥ १९६॥

अन्वयार्थौ—[इति] इसप्रकार गृहस्थ [एतान्] इन पूर्वमें कहे हुए [अतिचारान्] अतिचारोंको और [अपरान्] दूसरोंको अर्थात् अन्य दूषणोंके लगानेवाले अतिक्रम व्यतिक्रमादिकोंको [अपि] भी [सम्प्रतर्क्य] विचार करके, [परिवर्ज्य] छोड़करके, [अमलैः] निर्म्मल [सम्यक्त्वव्रतशीलैः] सम्यक्त्व व्रत और शीलोंद्वारा [अचिरात्] थोडे ही समयमें [पुरुषार्थसिद्धिम्] पुरुषके प्रयोजनकी सिद्धिको [एति] प्राप्त होता है।

भावार्थ—अतीचारोंके परिहारसे सम्यक्त्वव्रत और शील शुद्ध होते हैं और फिर उनके शुद्ध होनेपर आत्मा शीघ्र ही अपने इष्ट पदको प्राप्त होता है।

इति देशचारित्रकथनम्.

अथ सकलचारित्रव्याख्यानमाह.

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितं।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः॥१९७॥

अन्वयार्थौ—[आगमे] जैन सिद्धान्तमें [चारित्रान्तर्भावात्] चारित्रके अन्तर्वर्त्ती होनेसे [तपः] तप [अपि] भी [मोक्षाङ्गम्] मोक्षका अङ्ग [गदितं] कहा गया है, अतएव [अनिगूहितनिजवीर्यैः] अपने पराक्रमको नहीं छिपानेवाले तथा [समाहितस्वान्तैः] सावधानचित्तवाले पुरुषोंकरके [तदपि] वह तप भी [निषेव्यं] सेवन करने योग्य है।

भावार्थ—दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग बतलाया गया है और तप यह एक चारित्रका भेद विशेष है, अतएव यह तप भी मोक्षका एक अङ्ग ठहरा और इसी कारण शक्तिवान् सावधान पुरुषोंके सेवन करने योग्य है. तपश्चरण करनेकेलिये दो बातोंकी आवश्यकता है. एकतो अपनी शक्ति और दूसरे वशीभूत मन. क्योंकि जो पुरुष अपनी शक्तिको छुपाता है और कहता है, कि मुझसे तप नहीं होता, उसका तप अङ्गीकार करना असंभव है और जो मन वशीभूत न होवे, तो तप अङ्गीकार करके भी इच्छा बनी रहेगी और इससे जहां इच्छा है, वहां तप नहीं है. क्योंकि "इच्छानिरोधस्तपः" यह तपका लक्षण है।

अनशनमवमोदर्य्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः सङ्ख्याच निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थौ—[**अनशनम्**] अनशन, [**अवमोदर्य्यं**] ऊनोदर, [**विविक्तशय्यासनं**] विविक्तशय्यासन, [**रसत्यागः**] रसपरित्याग, [**कायक्लेशः**] कायक्लेश [**च**] और [**वृत्तेः संख्या**] वृत्तिपरिसंख्या [**इति**] इसप्रकार [**बाह्यं तपः**] बाह्यतप [**निषेव्यं**] सेवन करने योग्य हैं।

भावार्थ—तप दो प्रकारका है, एक **बाह्यतप** दूसरा **अन्तरंगतप**. जो नित्यनैमित्तक क्रियाओंमें इच्छाके निरोधसे साधन किया जावे और बाहिरसे दूसरेको प्रत्यक्ष प्रतिभासित होवे, उसे बाह्यतप और जो अन्तरङ्ग मनके निग्रहसे साधा जावे और दूसरोंकी दृष्टिमें न आ सके उसे अन्तरङ्गतप कहते हैं. प्रथम बाह्यतपके छह भेद हैं, जिनमें खाद्य[2], स्वाद्य[3], लेह्य[4], पेय[5] रूप चार प्रकारके आहारके त्याग करनेको **अनशन**, भूखसे थोड़ा आहार करनेको अवमोदर्य्य अथवा **ऊनोदर**, विषयी जीवोंके सञ्चाररहित स्थानमें सोने बैठनेको **विविक्तशय्यासन**, दुग्ध, दही, घृत, तेल, मिष्टान्न, लवण इन छह रसोंके त्याग करनेको **रसपरित्याग**, शरीरको परीषह उत्पन्न करके पीडाके सहन करनेको **कायक्लेश**[6] और "अमुक प्रकारसे अमुक आहार मिलेगा, तो भोजन करूंगा अन्यथा नहीं" इसप्रकार प्रवृत्तिकी मर्य्यादा करनेको वृत्तेः संख्या अथवा **वृत्तिपरिसंख्या** कहते हैं।

प्रथम तपसे रागादिक जीते जाते हैं, कर्मोंका क्षय होता है, ध्यानादिककी प्राप्ति होती है. दूसरेसे निद्रा नहीं आती, दोष घटते हैं, सन्तोष स्वाध्यायकी प्राप्ति होती है. तीसरेसे किसी प्रकारकी बाधायें उपस्थित नहीं होतीं, ब्रह्मचर्य्यका पालन होता है, ध्यानाध्ययनकी सिद्धि होती है. चौथेसे इन्द्रियोंका दमन होता है, निद्रा आलस्यका शमन होता है, स्वाध्यायसुखकी सिद्धि होती है. पांचवेंसे सुखकी अभिलाषा कृश होती है, रागका अभाव होता है, कष्ट सहन करनेका अभ्यास होता है, प्रभावनाकी वृद्धि होती है और छठवें तपसे आशातृष्णाका विनाश होता है।

विनयो[7] वैय्यावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ॥ १९९ ॥

---

१ अनशनावमोदर्य्यवृतिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः (त० अ० ९सू०१९)

२ उदर भरनेके लिये हाथसे खाने योग्य पदार्थ.

३ स्वादमात्र ताम्बूलादिक.

४ चाटनेके योग्य अवलेह आदिक.

५ पीने योग्य दुग्धादिक.

६ कायक्लेश और परीषहमें इतना भेद है, कि प्रयत्नपूर्वक कष्ट उपस्थित करके सहन करनेको तो कायक्लेश कहते हैं और स्वयं अकस्मात् आये हुए कष्टोंके सहन करनेको परीषह कहते हैं.

७ प्रायश्चित्तविनयवैय्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् (त० अ० ९ सू० २०)

अन्वयार्थौ—[विनयः] विनय, [वैय्यावृत्यं] वैय्यावृत्य, [प्रायश्चित्तं] प्रायश्चित्त [तथैव च] और तैसे ही [उत्सर्गः] उत्सर्ग, [स्वाध्यायः] स्वाध्याय, [अथ] पश्चात् [ध्यानं] ध्यान, [इति] इस प्रकार [अन्तरङ्गम्] अन्तरङ्ग [तपः] तप [निषेव्यं] सेवन करने योग्य [भवति] होते हैं।

भावार्थ—अन्तरङ्गतपके छह भेद हैं, जिनमें आदरभावको विनय कहते हैं, यह विनय दो प्रकारकी है १ मुख्यविनय २ उपचारविनय. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको पूज्यबुद्धिसे आदरपूर्वक धारण करना यह मुख्यविनय है और इनके धारण करनेवाले आचार्य्यादिकोंको आदरपूर्वक नमस्कारादि करना यह उपचारविनय है. इन आचार्यादिकोंकी भक्तिके वश परोक्ष रूपमें उनके तीर्थक्षेत्रादिकोंकी वन्दना करना यह भी उपचारविनयका भेद विशेष है, पूज्यपुरुषोंकी सेवाचाकरी करनेको वैय्यावृत्य कहते हैं. इसके भी दो भेद हैं एक कायचेष्टाजन्य जैसे हाथसे पदसेवन करना दूसरा परवस्तुजन्य जैसे भोजनके साथमें औषधादिक देकर साधुओंको रोगपीड़ासे मुक्त करना. प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रतिक्रमणादि पाठ अथवा तपव्रतादि अङ्गीकार करके दूर करनेको प्रायश्चित्त कहते हैं, धन धान्यादिक बाह्य तथा क्रोधमानादि अन्तरङ्ग परिग्रहोंमें अहंकार ममकाररूप बुद्धिके त्याग करनेको उत्सर्ग कहते हैं, ज्ञानभावनाकेलिये आलस्यरहित होकर श्रद्धानपूर्वक जैन सिद्धान्तोंका स्वतः पढ़ना, वारंवार अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना और दूसरोंसे सुनना, इसे स्वाध्याय कहते हैं और समस्तचिन्ताओंका त्यागकर धर्ममें तथा आत्मचिन्तवनमें एकाग्र होनेको ध्यान कहते हैं।

प्रथम अन्तरङ्ग तपसे मानकषायका विनाश होकर ज्ञानादिगुणोंकी प्राप्ति होती है, दूसरेसे गुणानुराग प्रकट होकर मानका अभाव होता है, तीसरेसे व्रतादिकोंकी शुद्धता होकर परिणाम निःशल्य हो जाते हैं तथा मानादिक कषाय कृश होते हैं, चौथेसे निष्परिग्रहत्व निर्भयत्व प्रगट होकर मोह क्षीण होता है, पांचवेंसे बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल रहते हैं, संवेग होता है, धर्मकी वृद्धि होती है और छठवेंसे मन वशीभूत होकर अनाकुलताकी प्राप्तिसे परम आनन्दमें मग्न हो जाता है।

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥ २०० ॥

अन्वयार्थौ—[जिनपुङ्गवप्रवचने] जिनेश्वरके सिद्धान्तमें [मुनीश्वराणां] मुनीश्वर अर्थात् सकल व्रतियोंको [यत्] जो [आचरणं] आचरण [उक्तं] कहा है, वह [एतत्] इन गृहस्थोंको [अपि] भी [निजां] अपनी [पदवीं] पदवी [च] और [शक्तिं] शक्तिको [सुनिरूप्य] भलेप्रकार विचार करके [निषेव्यम्] सेवन करने योग्य कहा है।

भावार्थ—इस ग्रन्थमें मुख्यतासे गृहस्थाचारका वर्णन किया गया है और जो थोड़ा

बहुत यतियोंका आचरण वर्णन किया है, वह गृहस्थाचारके प्रयोजनसे ही किया है, इसलिये गृहस्थोंको चाहिये, कि अपनी योग्यता और शक्तिका विचार करके उसका ग्रहण करें क्योंकि, मुनीश्वरोंकी संयमादि क्रिया एकोदेश अर्थात् यथाशक्ति गृहस्थपदमें भी कर्तव्य हैं. सर्वदेश कशंलुचनादि क्रियायें मुनीश्वरपदके ही योग्य हैं गृहस्थोंके नहीं।

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्॥ २०१॥

अन्वयार्थौ—[समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणं] समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [च] और [वपुषो व्युत्सर्गः] कायोत्सर्ग [इति] इसप्रकार [इदम्] ये [आवश्यकषट्कं] छह आवश्यक [कर्त्तव्यं] करना चाहिये।

भावार्थ—सम्यक् भावोंके करनेको **समता**, तीर्थंकरोंके गुणोंके कीर्तनको **स्तव**, उनके सम्मुख शिरादि अङ्गोंके नम्रीभूत करनेको **वन्दना**, प्रमादकृत पूर्वदोषोंके दूर करनेको **प्रतिक्रमण**, त्यागभावोंसे आगामीकालसम्बन्धी आस्रवके रोकनेको **प्रत्याख्यान**, और कायके त्याग करने अर्थात् पाषाणकी मूर्तिके समान निष्कम्प अचल होकर सामायिकमें स्थित होनेको **कायोत्सर्ग** कहते हैं. ये छह क्रियायें श्रावकको अत्यन्त आवश्यक हैं. इसीसे इनका नाम षट् आवश्यक क्रिया है।

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां[1] त्रितयमवगम्यम्॥ २०२॥

अन्वयार्थौ—[वपुषः] शरीरका [सम्यग्दण्डः] भले प्रकार अर्थात् शास्त्रोक्त विधिसे वश करना [तथा] तथा [वचनस्य] वचनका [सम्यग्दण्डः] भलेप्रकार अवरोधन करना [च] और [मनसः] मनका [सम्यग्दण्डः] सम्यक्तया निरोधन करना [इयं] इन [गुप्तीनां त्रितयं] गुप्तियोंके त्रिकको अर्थात् तीन गुप्तियोंको [अवगम्यं] जानना चाहिये।

भावार्थ—ख्याति लाभ पूजादिकी वांछाके विना मनोवचनकायकी स्वेच्छाओंके निरोध करनेको गुप्ति कहते हैं, इन्हें साधारणतः मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति कहते हैं।

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः[2]॥ २०३॥

अन्वयार्थौ—[सम्यग्गमनागमनं] सावधान होकर भलेप्रकार गमन और आगमन [सम्यग्भाषा] उत्तम हितमितरूप वचन, [सम्यक् एषणा] योग्य आहारका ग्रहण, [सम्यग्ग्रहनिक्षेपः] पदार्थका यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपन अर्थात् धरना [तथा]

१ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः (त. अ. ९ सू. ४)
२ ईर्य्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः (त. अ. ९ सू. ५)

और [सम्यग्व्युत्सर्गः] प्रासुक भूमि देखकर मलमूत्रादिक मोचन. [इति] इसप्रकार ये पांच [समितिः] समिति हैं ।

भावार्थ—प्राणपीड़ापरिहार करनेमें पांच समिति उत्तम उपाय हैं. इनके ईर्य्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति ये पांच प्रचलित नाम हैं. श्लोकमें इन्हीं नामोंके वाचक अन्य शब्द दिये गये हैं. मुनि और श्रावक दोनोंको इनकी पालना यथोचित करना चाहिये ।

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम् ।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थौ—[क्षान्तिः] क्षमा, [मृदुत्वम्] मृदुता अर्थात् मार्दव, [ऋजुता] सरलपना अर्थात् आर्जव [शौचं] शौच, [अथ] पश्चात् [सत्यं] सत्य, [च] तथा [आकिञ्चिन्यं] आकिंचन, [ब्रह्म] ब्रह्मचर्य्य [च] और [त्यागः] त्याग, [च] और [तपः] तप [च] और [संयमः] संयम [इति] इसप्रकार [धर्मः] दश प्रकारका धर्म [सेव्यः] सेवन करनेके योग्य है ।

भावार्थ—क्रोध कषायके कारण परिणामोंके कलुषित न होने देनेको क्षमा, जात्यादि अष्ट मदके न करनेको मार्दव, मनोवचनकायकी क्रियाओंके वक्र न रखनेको तथा कपटके त्यागको आर्जव, अन्तःकरणमें लोभ गृद्धिताके न्यून करनेको तथा बाह्य शरीरादिकमें पवित्रता रखनेको शौच, यथार्थ वचन कहनेको सत्य, परिग्रहके अभावको तथा शरीरादिकमें ममत्व न रखनेको आकिंचन, कर्मक्षय करनेकेलिये अनशनादि करनेको तथा इच्छाके निरोध करनेको तप, दूसरे जीवोंको दयाभाव करके ज्ञान आहारादि दान देनेको त्याग, इन्द्रिय निरोधन तथा त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षाको संयम, और परब्रह्म आत्मामें तल्लीन रहने तथा स्त्री संभोगके त्याग करनेको ब्रह्मचर्य्य कहते हैं. ये दशों धर्म अपनी २ योग्यतानुसार मुनि और श्रावक दोनोंको धारण करना चाहिये ।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म ।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थौ—[अध्रुवं] अध्रुव, [अशरणं] अशरण, [एकत्वं] एकत्व, [अन्यता] अन्यत्व, [अशौचं] अशुचि, [आस्रवः] आस्रव, [जन्म] संसार, [लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः] लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, संवर, और निर्जरा (एता द्वादश-

१ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्य्याणि धर्म्माः (त० अ० ९ सू० ६)

२ इस श्लोकमें पाद पूर्ण करनेकेलिये 'च, वर्णोंका समावेश अधिक हुआ है.

भावनाः) ये बारह भावना [सततम्] निरन्तर [अनुप्रेक्ष्याः] वार २ चिन्तवन तथा मनन करना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) जनोंको उपर्युक्त बारह भावना अथवा द्वादशानुप्रेक्षाओंका चिन्तवन निरन्तर करना चाहिये. ये भावना परम उत्कृष्ट निर्वेदको प्राप्त करनेवाली हैं. अनुप्रेक्षा शब्दका अर्थ बार २ चिंतवन वा मनन करना है, यह शब्द प्रत्येक नामके साथ संयोजित कर देना चाहिये। यथाः—

अध्रुवानुप्रेक्षा[1]—इस संसारमें शरीर सम्पदादि यावन्मात्र पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, वे सब ध्रुव नहीं हैं. जलके बुद्बुदेके समान तथा मेघोंके पटलके समान अनवस्थित हैं. खल पुरुषोंकी मैत्रीके समान अस्थिर हैं. गिरती हुई नदीके प्रवाहके समान क्षणविनश्वर हैं।

अशरणानुप्रेक्षा—[2]जैसे निर्जनवनमें सिंहसे पकड़े हुए हरिणके बच्चेको कोई भी शरण नहीं है अथवा कोईभी रक्षा करनेवाला नहीं है, उसी प्रकार इस संसाररूपी गहनवनमें मृत्युसे पकड़े हुए जीवको कोई शरण नहीं है।

[3]अथवा जैसे अपार समुद्रमें चलते हुए जहाजपर बैठे हुए पक्षीको जहाज छूट जानेसे कोई शरण नहीं है, उसीप्रकार इस संसारसमुद्रमें जीवको कोई शरण नहीं है।

[4]यदि सुरन्द्रादिक देव भी मृत्युसे रक्षा पानेमें समर्थ होते, तो फिर वे सम्पूर्ण भोगोंसे परिलिप्त स्वर्गवासको क्यों छोड़ते? कभी नहीं!

संसारानुप्रेक्षा—यह जीव पंच परावर्त्तनरूप[5] संसारमें नानाप्रकारकी कुयोनियोंमें भ्रमण करता है. कर्मरूपी यंत्रकी प्रेरणासे कभी स्वर्गमें जाता है, कभी नर्कमें जाता है, और

---

१ स्याद्दृग्बोधचरित्ररत्ननिचयं मुक्त्वा शरीरादिकाः।
न स्थेयाभ्रतडित्सुरेन्द्रधनुरम्भोबुद्बुदाभाः क्वचित्॥
एवं चिन्तयतोऽभिषङ्गविगमं स्याद्भुक्तमुक्तासने।
यद्वत्तद्विलयेऽपि नोचितमिदं संशोचनं श्रेयसे॥ (ग्रन्थान्तरे)

२ सिंहस्स कमे पडिदं सारंगं जह न रक्खदे कोवि।
तह मिच्चुणा य गहियं जीवंपि न रक्खदे कोवि॥
सिंहस्यक्रमेपतितं सारङ्गं यथा न रक्षते कोऽपि।
तथा मृत्युना च गृहीतं जीवमपि न रक्षते कोऽपि॥ २४॥ (श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाम्)

३ दत्तोदयेऽर्थनिचये हृदये स्वकार्ये। सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते॥
जाते त्वपायसमयेऽम्बुपतौ पतत्रेः। पोतादिव द्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति॥ (य० ति० च० का०)

४ अप्पाणंपि चवंतं जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदोवि।
तो किं छंडदि सग्गं सव्वुत्तम भोयसंजुत्तं॥ २९॥
आत्मानमपि च्यवन्तं यदि शक्नोति रक्षितुं सुरेन्द्रोऽपि।
तत् किं त्यजति स्वर्गं सर्वोत्तमभोगसंयुक्तम्॥ (श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाम्)

५ द्रव्यपरावर्त्तन, क्षेत्रपरावर्त्तन, कालपरावर्त्तन, भवपरावर्त्तन और भावपरावर्त्तन.

कभी निगोदादिककी महादुःखमय योनिमें जा पड़ता है. देखा जाता है, कि जो पुरुष पूर्वजन्ममें पिता था, वह इस जन्ममें पुत्र होता है. सेवक स्वामी होता है, स्त्री माता होती है और माता स्त्री होती है. और तो क्या आप ही मरकर अपने वीर्य्यसे अपना ही पुत्र होता है. फिर ऐसे संसारमें विश्वास करना कैसा? संसारमें कहीं भी सुख नहीं है. किसीके धन धान्य सेवक हस्ती घोटकादि समस्त वैभवकी सामग्री हैं, परन्तु पुत्र न होनेसे अत्यन्त दुखी है. जिसके पुत्री पुत्रादिक हैं, वह लक्ष्मीके न होनेसे दुखी है. जिसके सम्पत्ति और संतति दोनों है, वह शरीरसे निरोगी न रहनेके कारण दुखी है. कोई स्त्रीकी अप्राप्तिसे दुखी है, तथा जिसके स्त्री है वह उसके कर्कशत्वसे दुखी है. किसीका पुत्र कुमार्गगामी है, किसीकी पुत्री दुश्चरित्रा है सारांश संसारमें कोई भी सुखी नहीं है ।

एकत्वानुप्रेक्षा—यह जीव सदाका अकेला है. परमार्थदृष्टिसे इसका मित्र कोई नहीं है. अकेला आया है, अकेला दूसरी योनिमें चला जावेगा. अकेला ही बूढा होता है, अकेला ही जवान होता है और अकेलाही बालक होकर क्रीड़ा करता फिरता है. अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही दुखी होता है, अकेलाही पाप कमाता है और अकेलाही उसके फलको भोगता है. बंधुवर्गादिक कोईभी मशानभूमिसे आगेके साथी नहीं है, एक धर्म ही साथ जानेवाला है ।

---

१ पुत्तो वि भाओ जाओ सो वि य भाओ वि देवरो होदि ।
माया होइ सवत्ती जणणो वि य होइ भत्तारो ॥ ६४ ॥
एयम्मि भवे एदे संबंधा होंति एयजीवस्स ।
अण्णभवे किं भण्णइ जीवाणं धम्मरहिदाणं ॥ ६५ ॥
पुत्रः अपि भ्राता जातः सः अपि च भ्राता अपि देवरः भवति ।
माता भवति सपत्नी जनकः अपि च भवति भर्ता ॥ ६४ ॥
एकस्मिन् भवे एते सम्बन्धाः भवन्ति एकजीवस्य ।
अन्यभवे किं भण्यते जीवानां धर्मरहितानाम् ॥ ६५ ॥

२ कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त संपत्ती ।
अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ हवे देहो ॥ ५१ ॥
अह णीरोओ देहो तो धणधण्णाण णेय संपत्ती ।
अह धणधण्णं होदि हु तो मरणं झत्ति ढुक्केइ ॥ ५२ ॥
कस्स वि दुट्ठकलत्तं कस्स वि दुव्वसणि वसणिओ पुत्तो ।
कस्स वि अरिसमबंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया ॥ ५३ ॥
कस्य अपि नास्ति कलत्रं अथवा कलत्रं न पुत्रसम्प्राप्तिः ।
अथ तेषां सम्प्राप्तिः तथापि सरोगः भवेत् देहः ॥ ५१ ॥
अथ नीरोगः देहः तत् धनधान्यादि नैव सम्प्राप्तिः ।
अथ धनधान्यं भवति खलु तत् मरणं झटिति ढौकते ॥ ५२ ॥
कस्य अपि दुष्टकलत्रं कस्य अपि दुर्व्यसनव्यसनिकः पुत्रः ।
कस्य अपि अरिसमबन्धुः कस्य अपि दुहितापि दुश्चरित्रा॥५३॥(श्रीस्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाम्)

अन्यत्वानुप्रेक्षा—यद्यपि इस शरीरसे मेरा अनादि कालसे सम्बन्ध है, परन्तु यह अन्य है और मैं अन्य ही हूं. यह इन्द्रियमय है, मैं अतीन्द्रिय हूं. यह जड़ है, मैं चैतन्य हूं. यह अनित्य है, मैं नित्य हूं. यह आदि अन्त संयुक्त है, मैं अनादि अनन्त हूं. सारांश शरीर और मैं सर्वथा भिन्न हूं. इसलिये जब अत्यन्त समीपस्थ शरीर भी अपना नहीं है, तो फिर स्त्री कुटुम्बादिक अपने किस प्रकार हो सक्ते हैं? ये तो प्रत्यक्ष ही दूसरे हैं।

अशुचित्वानुप्रेक्षा—यह शरीर अतिशय अपवित्रताका योनिभूत और बीभत्सयुक्त है. माता पिताके मलरूप रज और वीर्यसे इसकी उत्पत्ति है. इसके संसर्गमात्रसे अन्य पवित्र सुगन्धित पदार्थ महा अपवित्र तथा घिनावने हो जाते हैं. शरीर इतना निंद्य पदार्थ है, कि यदि इसके ऊपर त्वचाजाल नहीं होता, तो इसकी ओर देखना भी कठिन हो जाता।

विषयाभिलाषी जीव यद्यपि इसे ऊपरसे नानाप्रकारके वस्त्राभूषणों सुगन्धित द्रव्योंसे चमकीला बनाया करते हैं; परन्तु यह भीतरसें सम्पूर्ण कुथित जीवोंका पिंड क्रमि समूहसे लिप्त अतीव दुर्गंधित मल मूत्र श्लेष्मादि मलिन पदार्थोंका घर है जिस प्रकार मल-निर्मित घड़ा धोनेसे किसी प्रकार पवित्र नहीं हो सक्ता, उसी प्रकार यह शरीर स्नान विलेपनादिसे कभी विशुद्ध नहीं हो सक्ता! संसारमें यदि इसके पवित्र करनेका कोई उपाय है तो वह यही है, कि सम्यग्दर्शनकी भावना निरन्तर की जावे।

आस्रवानुप्रेक्षा—पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग इस प्रकार सत्तावन द्वारोंसे जीवके शुभाशुभ कर्मोंका आगमन होता है, यही आस्रव है. यह शुभ और अशुभरूप दो प्रकारका है. शुभयोगजन्य कर्मोंके आस्रवको शुभास्रव और

१ देहात्मकोऽहमिति चेतसि मा कृथास्त्वं । त्वत्तो यतोऽस्य वपुषः परमो विवेकः ॥
त्वं धर्मशर्मवसतिः परितोऽवसायः । कायः पुनर्जड़तया गतधीनिकायः ॥ (य० ति० न० १२३)

२ सयलकुहियाण पिंडं किमिकुलकलियं अउव्व दुग्गंधं ।
मलमुत्ताणं गेहं देहं जाणेह असुइमयं ॥ ८३ ॥
सकलकुथितानां पिण्डं कृमिकुलकलितं अतीव दुर्गन्धम् ।
मलमूत्राणां गृहं देहं जानीहि अशुचिमयम् ॥ ८३ ॥ (स्वा० का० प्रे०)

३ एकान्त मिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व.

४ पांच इन्द्रियजन्य तथा एक मनोजन्य असंयम और छह कायके जीवोंकी अदया.

५ अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरणी क्रोधमान माया लोभ, प्रत्याख्यानी क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ ये १६ कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष नपुंसक ये ९ नो कषाय.

६ सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिककाययोग, मिश्रकाययोग, वैक्रियककाययोग, वैक्रियकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, कार्माणकाययोग.

अशुभयोगजन्य कर्मोंके आस्रवको अशुभास्रव कहते हैं. इस आस्रवसे बंध होता है और बंध संसारका मूल कारण है, अतएव मुमुक्षु जनोंको इससे विमुख रहना चाहिये. इस प्रकार भावना पूर्वक आस्रवके स्वरूपका चिन्तवन करनेको आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं।

संवरानुप्रेक्षा—"आस्रवनिरोधः संवरः" अर्थात् कर्मोंके आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं. इस संवरके कारणभूत पांच महाव्रत, पांच समिति, तीनगुप्ति, दशलाक्षणिक धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, और बावीस परीषहोंके चिन्तवन करनेको संवरानुप्रेक्षा कहते हैं।

निर्जरानुप्रेक्षा—पूर्वसंचित कर्मसमूहके उदयमें आकर तत्काल ही निर्जर जाने अर्थात् झड़ जानेको निर्जरा कहते हैं, यह दो प्रकारकी होती है; एक **सविपाक निर्जरा** दूसरी **अविपाक निर्जरा**. पूर्वसंचितकर्मोंकी स्थिति पूर्ण होकर उनके रस (फल) देकर स्वयं झड़ जानेको **सविपाक निर्जरा** कहते हैं और तपश्चर्या परीषह विजयादिके द्वारा कर्मोके स्थिति पूरे किये विना ही झड़ जानेको **अविपाक निर्जरा** कहते हैं. आम्रफलका वृक्षमें लगे हुए काल पाकर स्वयं पक जाना सविपाक निर्जराका और पदार्थ विशेषमें दबाकर गर्मीके-द्वारा पकाया जाना अविपाक निर्जराका उदाहरण है. सविपाक निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवोंके होती है, परन्तु अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टी सत्पुरुषों तथा व्रतधरियोंके ही होती हैं. निर्जराके स्वरूपका इस प्रकार चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा—दशों दिशागत शून्यरूप अनन्त अलोकाकाश है. इस अलोकाकाशके बहुमध्यवर्ती देशमें पुरुषके आकार सदृश लोक स्थित है. यह लोक अनादि निधन स्वयं-सिद्ध रचनाके द्वारा स्थिर है. इसका न कोई कर्ता है और न कोई हर्ता है. इस पुरुषाकार लोकका उरुजंघादिदेश अधोलोक है. कटितटप्रदेश मध्यलोक है. उदर-प्रदेश माहेन्द्र स्वर्गान्त है. हृदयप्रदेश ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग है. स्कन्ध प्रदेश आरणाच्युत स्वर्ग है. महाभुजायें दोनों ओरकी मर्यादा हैं. कण्ठदेश नवग्रैवियक है. दाढ़ीदेश अनुदिशि है. ललाटदेश सिद्धक्षेत्र है और मस्तक सिद्धस्थान है. इसप्रकार पुरुषाकार लोककी आकृति ध्यानमें स्थितकर वारंवार चिन्तवन करनेको लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—इस घोर दुःखरूप संसारमें निगोद राशिसे निकलकर त्रस-

---

१ मणवयण काय जोया जीवपयेसाण फंदण विसेसा।
मोहोदयेण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥ ८८ ॥
मनवचनकाययोगाः जीवप्रदेशानां स्पन्दनविशेषाः।
मोहोदयेन युक्ताः वियुताः अपि च आस्रवाः भवंति ॥ ८८ ॥ (स्वा० का० प्रे०)

२ इसके भी दो भेद हैं, एक शुभानुबन्धा और दूसरी निरानुबन्धा. जिससे स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति होती है, उसे शुभानुबन्धा और जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है, उसे निरानुबन्धा कहते हैं।

३ जैनधर्मका पुरुषाकार लोक जाननेकेलिये त्रैलोकसार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि महान् ग्रन्थ देखना चाहिये.।

जन्मकी प्राप्ति दुर्लभ है. त्रस जन्ममें भी पंचेन्द्रिय होना महासमुद्रमें गिरी हुई वज्रकणिकाकी प्राप्तिके तुल्य महादुर्लभ है. पंचेन्द्रियमें भी मनुष्य होना सब गुणोंमें कृतज्ञता गुणकी नाईं अति दुर्लभ है. एक मनुष्यपर्यायके पूर्ण होनेपर उसका पुनः प्राप्त करना मुख्यमार्गमें पड़े हुए रत्नके समान अतीव दुर्लभ है. मनुष्य जन्ममें भी उत्तम कुल, उत्तम देश, इन्द्रियोंकी पूर्णता, आरोग्यता, और सम्पत्ति पाना भस्मीभूतवृक्षकी भस्मसे वृक्षकी पुनः उत्पत्तिके समान उत्तरोत्तर दुर्लभ है. अन्ततोगत्वा परम अहिंसामयी धर्म, धर्ममें उत्तम श्रद्धा, गृहस्थधर्म, यतिधर्म तथा समाधि मरण पाना तो अतिशय दुर्लभ है. इस प्रकार रत्नत्रय रत्नके चिन्तवन करनेको बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं. अथवा पर वस्तुकी प्राप्ति जो अपने वशमें नहीं है, वह होवे अथवा न होवे, परन्तु अपना स्वभाव आपमें ही है, कहींसे लाना नहीं है; तो उसकी प्राप्ति दुर्लभ क्यों मानना चाहिये? इसप्रकारके चिन्तवनको भी दुर्लभानुप्रेक्षा कहते है।

धर्मानुप्रेक्षा—यह सर्वज्ञप्रणीत जैनधर्म अहिंसालक्षणयुक्त है. सत्य, शौच, ब्रह्मचर्यादि इसके अंग हैं. इनकी अप्राप्तिसे जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करता है. पापके विपाकसे दुखी होता है, परंतु इसकी प्राप्तिसे अनेक सांसारिक सम्पदाओंका भोग करके मुक्तिप्राप्तिसे सुखी होता है. इसप्रकार चिन्तवन करनेको धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं।

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचना रतिरलाभः।
दंशो मसकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥ २०६ ॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥ २०७ ॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥ २०८ ॥

विशेषकम्.

अन्वयार्थौ—[संक्लेशमुक्तमनसा] संक्लेशरहित चित्तवाले और [संक्लेशनिमित्तभीतेन] संक्लेशनिमित्तसे अर्थात् संसारसे भयभीत साधु करके [सततं] निरन्तर ही [क्षुत्] क्षुधा, [तृष्णा] तृषा, [हिमं] शीत, [उष्णं] उष्ण, [नग्नत्वं] नग्नता, [याचना] प्रार्थना, [अरतिः] अरति, [अलाभः] अलाभ, [मसकादीनां दंशः] मच्छरादिकोंका काटना [आक्रोशः] कुवचन, [व्याधिदुःखं] रोगका दुःख, [अमङ्गलं] शरीरका मल, [तृणादीनां स्पर्शः] तृणादिकका स्पर्श, [अज्ञानं] अज्ञान, [अदर्शनं] अदर्शन, [तथा प्रज्ञा] तथा

१ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमसकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्य्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाच्ञालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि (त० सू० अ० ९ सू० ९)

२ अर्थात् जिसके चित्तमें क्लेश नहीं है.

प्रज्ञा, [सत्कार पुरस्काराः] सत्कार पुरस्कार, [शय्या] शय्या, [चर्या] चर्या, [वधः] वध, [निपद्या] निपद्या [च] और [स्त्री] स्त्री [एते] ये [द्वाविंशतिः] बावीस [परीषहाः] परीषह [अपि] भी [परिषोढव्याः] सहन करने योग्य हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त बावीस परीषहोंका जीतना मुनियोंका परम कर्तव्य है. इन परीषहों अर्थात् उपसर्गोंके सहनसे मुनि अपने मार्गमें निश्चल रहता है और क्षण क्षणमें अनन्त कर्मोंकी निर्ज्जरा करता है. इन परीषहोंके सहनमें किसी प्रकार कायरता धारण नहीं करना चाहिये और यदि चित्त किसी प्रकार कायर होनेके सन्मुख होवे, तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विचारकर (जैसा प्रत्येक परीषहके वर्णनमें बतलाया जावेगा) उसे उसी समय सुदृढ़ करना चाहिये. परीषहोंका जय किये विना चित्तकी निश्चलता नहीं होती, चित्तकी निश्चलता विना ध्यानावस्थित नहीं हो सक्ता, ध्यानावस्थित हुए विना कर्म क्षय नहीं हो सक्ते और कर्मोंके क्षय हुए विना मोक्षकी प्राप्ति असंभव है. अतएव मोक्षाभिलाषी और संसारदुःखसे भयभीत मुनियोंका पूर्णतः और गृहस्थोंका यथाशक्ति परीषह जय करना परम कर्तव्य है।

१. क्षुधापरीषहजय—भूखकी वेदना होनेपर उसके वशवर्त्ती न होकर दुःख सह लेनेको कहते हैं. जिस समय मुनिको क्षुधाकी तीव्र वेदना होवे, उस समय उन्हें सोचना चाहिये, कि हे जीव! तूने अनादि कालसे संसार परिभ्रमण करके अनन्त पुद्गल समूहोंका भक्षण किया, तो भी तेरी भूख न गई! तूने नरक गतिमें ऐसी तीव्र क्षुधावेदना सही है, कि जिसको सुनकर चकित होना पड़ता है. अर्थात् तुझे वहां सुमेरु पर्वतके बराबर अन्नराशि भक्षण करने योग्य क्षुधा थी, परन्तु एक कणमात्र भी नहीं मिलता था! मनुष्य तिर्यञ्च गतिमें बंदीग्रहमें पड़ २ तूने अनन्तवार क्षुधा सहन की है, फिर अब मुनिव्रतको ग्रहण करके अत्यन्त स्वाधीन वृत्तिको धारण करते हुए भी तू इस अल्प वेदनासे कायर होता है.? देख! अन्य मुनीश्वर पक्षोपवास मासोपवास कर रहे हैं, उन्हें क्षुधाका दुःख नहीं है, फिर तुझे क्यों होना चाहिये? तुझे अब अनन्तवार किये हुए भोजनकी लालसा छोड़कर ज्ञानामृतका भोजन करना चाहिये. इत्यादि विचारकर क्षुधाजनित दुःखको सहलेना सो क्षुधापरीषह है।

२. तृषापरीषहजय—प्यासकी असह्य वेदना होनेपर उसके वशीभूत होकर जलपानादिक न करके दुःख सहलेनेको कहते हैं. उष्णताकी पुंज ग्रीष्मऋतुमें गिरि शिखरपर आरूढ़ मुनिको उपवासोंकी तीव्र उष्णतासे जिस समय तृषावेदना होती है, उस समय वे विचारते हैं:—हे जीव! तूने संसारमें अनेकवार जन्म धारण करके अनेकवार अनेक गतिमें अतिशय दुःसह तृषा वेदनाको सहन किया है, फिर इस थोड़ी सी वेदनासे कायर क्यों होता है? मुनिकी स्वतंत्र सिंहवृत्तिका आचरण करके कायर होना लज्जाकी बात है. जगतपूज्य इस मुनि अवस्थामें जगत दुर्लभ ज्ञानपीयूषका पान कर।

३. **शीतपरीषहजय**—शीतका कष्ट सहन करनेको कहते हैं. जिसमें समीरणके एक झोकेसे जगत्के जीवोंकी शरीरयष्टि थर थर कांपने लगती है, सरोवरोंके जल जिसके डरसे पत्थर (बर्फ) हो जाते हैं. हरित वृक्षोंके समूह तथा कमलवन जिससमय तुषारसे दग्ध हो जाते हैं. तेल, तरणि, ताम्बूलादि उष्ण पदार्थोंका सेवन करते हुए भी मनुष्य घरमेंसे बाहिर नहीं हो सक्ते, ऐसी हेमन्तऋतुमें सरित सरोवरादि जलाशयोंके किनारे कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन स्थित मुनिवरोंको जब शीत सताता है, तब वे विचार करते हैं:—हे जीव! तूने छठवें सातवें नरक प्रदेशकी उस महाशीत वेदनाका सहन किया है, जिसकी तुलना करनेसे यह उपस्थित वेदना सुमेरुके सम्मुख एक अणुके तुल्य है. यदि तू इस महा मुनिवृत्तिको धारणकर इसे जीत लेगा, तो सदाकेलिये इससे छुटकारा हो जावेगा. नहीं तो फिर इससे भी दुस्सह शीत अनन्त संसारमें अनन्तवार सहना पड़ेगा।

४. **उष्णपरीषहजय**—उष्णताका संताप सहनेको कहते हैं. जिसमें समस्त संसार तप्त तवेके समान हो जाता है, यावन्मात्र जीव व्याकुल हो जाते हैं, जंगलके महाहिंसक पशु सिंह और हरिण व्याकुलताके कारण वैरभावको छोड़कर एक स्थानमें पड़े रहते हैं, जलाशयोंके जलसूख जाते हैं, तप्तलूकोंके (लूयें) चलनेसे वृक्ष कुम्हला जाते हैं, ऐसे प्रचण्ड ग्रीष्मकालमें मुनिजन पर्वतोंकी उच्चशिखरोंकी शिलाओंपर स्थित होते हैं और ज्ञानामृतकी शीतलतासे उष्ण वेदनाका शमन करते रहते हैं।

५. **नग्नपरीषहजय**—रेशम, ऊन, सूत, घास, वृक्ष, चर्मादिकके किसी प्रकारके वस्त्र न रखकर दशों दिशाओंके वस्त्र धारणकर भयंकर वनमें एकाकी नग्न रहनेको और काय सम्बन्धी विकारोंके न होने देनेको कहते हैं।

६. **याचनापरीषहजय**—किसीसे किसी भी प्रकारकी याचना न करनेको कहते हैं. याचनासे समस्त संसारी जीव दीन हो रहे हैं. महावैभव तथा ऋद्धिसम्पन्न इन्द्र भी अभिलाषावश रंक हो रहे हैं, परन्तु मुनि अयाचीक व्रतके धारण करनेवाले हैं. वे किसीसे भोजन धर्मोपकरणादि वस्त्र तो क्या तीर्थंकरदेवसे मोक्ष भी नहीं मांगते। इसीसे वे सर्वोत्कृष्ट हैं।

७. **अरतिपरीषहजय**—संसारके समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें संसारी जीव रागद्वेष मानते हैं. ऐसा न करके मन्दिर और वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, सबमें समता भाव धारण करनेको तथा रति अरति रूप परिणाम न करनेको अरतिपरीषहजय कहते हैं।

८. **अलाभपरीषहजय**—अनेक उपवासोंके अनन्तर नगरमें भोजनार्थ जानेपर निर्दोष आहारादि न मिलनेसे खेदित न होनेको कहते हैं।

९. **दंशमसकादिपरीषहजय**—भयंकर वनमें नग्न शरीरपाकर नानाऋतुके नानाप्र-

कारके डांस, मच्छड़, पिपीलिका, मक्खी, कानखजूरे, सर्पादि जीव लपट जाते हैं, उनकी व्यथासे खेदित न होकर ध्यानावस्थित रहनेको कहते हैं।

१०. आक्रोशपरीषहजय—मुनिकी महादुर्धर नग्न दिगम्बरावस्थाको देखकर दुष्ट जन नाना प्रकारके कुवचन कहते हैं. पाखंडी, चौर, ठग, निर्लज्ज आदि कहकर गालियां देते हैं. ऐसे समयमें किञ्चिन्मात्र भी कोधित न होकर महाक्षमा धारण करनेको कहते हैं।

११. रोगपरीषहजय—इस क्षणस्थायी शरीरमें उदरविकार, रक्तविकार, चर्मविकार, तथा वायुपित्तकफजनितविकार आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं. उनके उत्पन्न होनेपर खेदित न होके तज्जनितपीड़ा सहन करते हुए स्वतः रोग शमनके उपाय न करनेको रोग परीषहजय कहते हैं।

१२. मलपरीषहजय—संसारके जीवोंके शरीरमें पसीना आकर रंचमात्र भी रज वैठ जावे, तो वे खेद करते हैं और स्नानादि सुखनिमित्तक उपाय करते हैं. ऐसा न करके ग्रीष्मकी धूपसे प्रवाहित पसीनापर अनन्त रज वैठ जानेपर अर्थात् शरीरके महामलिन हो जानेपर भी स्नान विलेपनादि नहीं करके चित्त निर्म्मल रखनेको मलपरीषहजय कहते हैं. इस परीषहका जय करतेसमय मुनि चिन्तवन करते हैं, कि हे जीव! यद्यपि यह शरीर इतना मलिन है, कि सारे समुद्रके जलसे धोया जावे तौ भी पवित्र न होवे; परन्तु तू महानिर्म्मल अमूर्तीक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, तुझसे मूर्तीक मलिनपदार्थोंका संसर्ग ही नहीं हो सक्ता, अतएव देह स्नेह छोड करके आपमें स्थिर हो।

१३. त्रणस्पर्शपरीषहजय—जगतके जीव जरासी फांसके लग जानेपर दुखी होते हैं और उसके निकालनेका प्रयत्न करते हैं. ऐसा न करके त्रण, कंटक, कंकर, फांस, आदि शरीरमें चुभ जानेपर खेद खिन्न न होनेको और उनके निकालनेका उपाय न करनेको त्रणस्पर्शपरीषहजय कहते हैं।

१४. अज्ञानपरीषहजय—ज्ञानावरणी कर्मके उदयसे चिरकाल तपश्चर्य्या करनेपर भी श्रुतज्ञान पूर्ण न होनेपर स्वतः खेद न करनेको और ऐसी अवस्थामें अन्य जनोंसे, अज्ञानी आदि मर्मभेदी वचन सुनकर दुःखित न होनेको अज्ञानपरीषहजय कहते हैं।

१५. अदर्शनपरीषहजय—संसारीजीव समस्तकार्य प्रयोजन रूप करते हैं और प्रयोजनमें थोड़ी सी भी न्यूनता देखनेपर क्लेशित होते हैं, ऐसा न करके वहुकाल उग्रतप करनेपर यदि किसी प्रकारके ऋद्धि, सिद्धि आदि प्रगट करनेवाले अतिशय प्रगट न हुए हों, तो संयमके फलमें रंचमात्र भी शंका न करके खेद खिन्न न होकर अपने मार्गमें स्थित रहनेको और सम्यग्दर्शनको दूषित न करनेको अदर्शनपरीषहजय कहते हैं।

१६. प्रज्ञापरीषहजय—बुद्धिका पूर्ण विकाश होनेपर किसी प्रकारके मान न करनेको कहते हैं।

१७. **सत्कारपुरस्कारपरीषहजय**—देव, मनुष्य, तिर्यञ्चादि सब ही जीव अपना आदर सत्कार चाहते हैं. आदर करनेवालेको अपना मित्र और न करनेवालेको शत्रु समझते हैं. ऐसा न करके सुरेन्द्रादिक महर्द्धिक देवोंसे सत्कार पानेपर और अविवेकी क्षुद्र जीवोंसे तिरस्कृत होनेपर हर्ष विषाद न करके समान भाव धारण करनेको सत्कार पुरस्कार परीषहजय कहते हैं।

१८. **शय्यापरीषहजय**—खुरदरी, पथरीभी कंटकाकीर्ण भूमिमें शयनकरके दुखी न होनेको कहते हैं।

१९. **चर्य्यापरीषहजय**—किसी प्रकारकी सवारीकी इच्छा न करके मार्गके कष्टको न गिनकर भूमिशोधन करते हुए गमन करनेको कहते हैं।

२०. **वधबंधनपरीषहजय**—दुष्ट मनुष्योंद्वारा वधबंधनादि दुःख उपस्थित होनेपर उन्हें समता पूर्वक सहनकरनेको कहते हैं।

२१. **निषद्यापरीषहजय**—निर्जनवनोंमें, हिंसक जीवोंके निवासस्थानोंमें, व्यन्तरादि देवोंके स्थानोंमें, अंधकारयुक्त गुफाओंमें, और मशानभूमियोंमें रहकरभी दुःख न माननेको कहते हैं।

२२. **स्त्रीपरीषहजय**—महासुन्दर, स्त्रियोंकी हावभाव भ्रूकटाक्षादि चेष्टाओंसे पीड़ित न होनेको कहते हैं।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता॥ २०९॥

अन्वयार्थौ—[इति] इसप्रकार [एतत्] पूर्वोक्त [रत्नत्रयं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय [विकलं] एकदेश [अपि] भी [निरत्ययां] अविनाशी [मुक्तिम्] मुक्तिको [अभिलषिता] चाहनेवाले [गृहस्थेन] गृहस्थ करके [अनिशं] निरन्तर [प्रतिसमयं] समयसमयपर [परिपालनीयम्] परिपालन करने योग्य है।

भावार्थ—इस मोक्ष प्रतिपादक ग्रन्थमें अभीतक सकल और विकलरूप दो प्रकारके रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन किया गया है[1] अब कहते हैं; कि सकलरत्नत्रय मुनिका धर्म है और विकल रत्नत्रय गृहस्थका धर्म है, परन्तु साक्षात् परम्पराकी अपेक्षा ये दोनों ही मोक्षके कारण हैं, बन्धके कारण नहीं हैं. इसलिये मोक्षाभिलाषी गृहस्थको सकल न सध सकै, तो विकल रत्नत्रय तो अवश्य सेवन करना चाहिये।

---

१ प्रथम तीस कारिकाओंमें दर्शन प्रकरण फिर छह श्लोकोंमें ज्ञानाधिकार, एकसौ साठ आर्याछन्दोंमें देशचारित्र और पश्चात् १२ आर्या छन्दोंमें सकलचारित्रका स्तवन है. इसप्रकार २०५ कारिकाओंमें द्विविधिरत्नत्रयका स्वरूप वर्णित है.

वद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥ २१० ॥

अन्वयार्थौ—[च] और यह विकल रत्नत्रय [नित्यं] निरन्तर [वद्धोद्यमेन] उद्यम करनेमें तत्पर ऐसे मोक्षाभिलाषी गृहस्थद्वारा [बोधिलाभस्य] रत्नत्रयके लाभके [समयं] समयको [लब्ध्वा] प्राप्तकरके तथा [मुनीनां] मुनियोंके [पदम्] चरण [अवलम्ब्य] अवलम्बन करके [सपदि] शीघ्र ही [परिपूर्णं] परिपूर्ण [कर्त्तव्यं] करने योग्य है ।

भावार्थ—विवेकी जीव गृहस्थाचारमें रहकरके भी सांसारिक भोगविलासोंसे विरक्त तथा मोक्षमार्गमें गमन करनेमें उद्यमवन्त रहते हैं. उन्हें चाहिये, कि वैराग्य प्राप्तिका अवसरपाकर मुनिपद धारणकर लेवें और पूर्व साधित अपूर्ण रत्नत्रयको पूर्ण कर लेवें ।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥ २११ ॥

अन्वयार्थौ—[असमग्रं] असम्पूर्ण [रत्नत्रयं] रत्नत्रयको [भावयतः] भावन करनेवाले पुरुषके [यः] जो [कर्मबन्धः] शुभकर्मका बंध [अस्ति] है, [सः] सो [विपक्षकृतः] बंधरागकृत होनेसे [अवश्यं] अवश्य ही [मोक्षोपायः] मोक्षका उपाय है, [बन्धनोपायः] बंधका उपाय [न] नहीं है ।

भावार्थ—विकलरत्नत्रयमें शुभभावके प्रादुर्भावसे जो पुण्य प्रकृतिका बंध होता है वह मिथ्यादृष्टिकी नाईं संसारका कारण नहीं है, किन्तु परम्परा मोक्षका कारण है ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१३ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१४ ॥
[त्रिभिर्विशेषकम्]

अन्वयार्थौ—[अस्य] इस आत्माके [येनांशेन] जिस अंशसे [सुदृष्टिः] सम्यग्दर्शन है [तेन] उस [अंशेन] अंशसे [बन्धनं] बन्ध [नास्ति] नहीं है, [तु] तथा [येन] जिस [अंशेन] अंशसे [अस्य] इसके [रागः] राग है [तेन] उस [अंशेन] अंशसे [बन्धनं] बन्ध [भवति] होता है । [येन] जिस [अंशेन] अंशसे [अस्य] इसके [ज्ञानं] ज्ञान है [तेन] उस [अंशेन] अंशसे [बन्धनं] बन्ध [नास्ति]

---

१ रत्नत्रयकृत नहीं.

नहीं हैं [तु] और [येन] जिस [अंशेन] अंशसे [रागः] राग है [तेन] उस [अंशेन] अंशसे [अस्य] इसके [बन्धनं] बन्ध [भवति] होता है। [येन] जिस [अंशेन] अंशसे [अस्य] इसके [चरित्रं] चारित्र है [तेन] उस [अंशेन] अंशसे [बन्धनं] बन्ध [नास्ति] नहीं है, [तु] तथा [येन] जिस [अंशेन] अंशसे [रागः] राग है [तेन] उस [अंशेन] अंशसे [अस्य] इसके [बन्धनं] बन्ध [भवति] होता है।

भावार्थ—आत्मविनिश्चयप्रकाशक आत्मपरिज्ञानसे आपके द्वारा आपमें ही स्थिर होना इसीका नाम अभेद (सकल) रत्नत्रय है, फिर इसप्रकारकी बुद्धि परिणतिमें बंधका अवकाश कहां? बंध तो तब होता है, जब इस परणतिसे विपरीत होकर परिणमन करता है. सुतरां इससे यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ, कि जिन अंशोंसे यह आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमता है, वे अंश सर्वथा बंधके हेतु नहीं हैं; किन्तु जिन अंशोंसे यह रागादिक विभावरूप परिणमन करता है, वे ही अंश बंधके हेतु हैं।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थौ—[प्रदेशबन्धः] प्रदेशबन्ध[1] [योगात्] मन वचन कायके व्यापार योगसे [तु] तथा [स्थितिबन्धः] स्थितिबन्ध[2] [कषायात्] क्रोधादिक कषायोंसे [भवति] होता है, [दर्शनबोधचरित्रं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय [न] न तो [योगरूपं] योगरूप है [च] और न [कषायरूपं] कषायरूप ही है।

भावार्थ—संसारी आत्माकी मनोवचनकायकी हलन चलनरूप क्रियाको **योग**[3] कहते हैं. इस योगकी क्रियासे आस्रवपूर्वक प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है, और राग द्वेष भावोंकी परणतिको **कषाय** कहते हैं. इसके अनुसार स्थितिबन्ध तथा अनुभाग बंध होता है. यथाः—सयोग केवलीके योगक्रियासे सातावेदनीका समयस्थायीबंध है. स्थितिबंध नहीं है. क्योंकि उनके कषायका सद्भाव नहीं है. अतएव सिद्ध हुआ कि, योगकषाय ही बंधके कारण हैं. सो रत्नत्रय न तो योगरूप ही है और न कषायरूप ही है, फिर बंधका कारण कैसे हो सक्ता है?

ऊपर कहचुके हैं कि, जीवके प्रदेशोंमें हलनचलनरूप क्रियाविशेषको **योग** कहते हैं. इन योगद्वारोंसे कर्मोंका **आस्रव** होता है और पश्चात् कर्मके योग्य पुद्गलोंके ग्रहणसे

१ प्रदेशबन्धसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध दोनोंका ग्रहण किया है.

२ स्थितिबंधसे स्थितिबंध और अनुभागबंध दोनोंका ग्रहण किया है.

३ कायवाङ्मनकर्मयोग इति वचनात्.

जीव और कर्म पुद्गलोंके एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित होनेको बंध कहते हैं. यह बंध चार प्रकारका है, स्थितिबंध, अनुभागबन्ध, प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध, बंधोके उक्त भेदोपभेद जाननेके पहिले हमको चाहिये, कि कर्म पुद्गलोंको जिनसे कि बंध होता है, अच्छी तरह जान लें. ये कर्म पुद्गल आठ प्रकारके हैं. १ ज्ञानवरणी, २ दर्शनावरणी, ३ मोहनी, ४ वेदनी, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, और ८ अन्तराय. ज्ञानावरणीकर्मका स्वभाव परदेके समान है. जिस प्रकार परदा पड़ जानेसे पदार्थको यथार्थ नहीं देखने देता, उसी प्रकार ज्ञानावरणीकर्मपुद्गल आत्माके प्रदेशोंसे सम्बन्ध करके तत्वज्ञान नहीं होने देते. दर्शनावरणीका स्वभाव द्वारपालके समान है. अर्थात् जिसप्रकार द्वारपाल परका दर्शन नहीं होने देते, उसी प्रकार दर्शनावरणीकर्मपुद्गलप्रदेश आत्मासे सम्बन्धकरके आत्माका श्रद्धान नहीं करने देते. मोहनीका स्वभाव मदिरा (शराव)के समान है. अर्थात् जिसप्रकार मदिरा जीवोंको असावधान कर देती है, उसीप्रकार मोहनीकर्म आत्माको संसारमें पागल सा बना देता है. वेदनीका स्वभाव शहद लपेटी तीक्ष्ण असिधारके समान है. अर्थात् जैसे छुरी चाटनेसे मीठी लगती है, परन्तु निदान जीभका छेदन करती है, उसीप्रकार वेदनीकर्म थोड़ें समयकेलिये साता दिखाकर असातासे पीडित रखता है. आयुका स्वभाव खोडेके समान है, जैसे खोडेमें (काठमें) चौरआदिका पांव अटका देते हैं और जिसप्रकार काठके रहते चौरआदि निकल नही सक्ते, उसी प्रकार आयुकर्मके पूर्ण हुए विना नरकादिकसे नहीं निकल सक्ते. नामका स्वभाव चित्रकारके समान है, अर्थात् जिसप्रकार चित्रकार नानाप्रकार आकार बनाता है, उसीप्रकार नामकर्म आत्मासे सम्बन्ध करके नानाप्रकार मनुष्य तिर्यञ्चादिक आकार बनाता है. गोत्रका स्वभाव कुंभकारके समान है, अर्थात् जिसप्रकार कुंभकार छोटे बड़े नानाप्रकारके बर्तन बनाता है उसीप्रकार गोत्रकर्म उच्चनीच गोत्रोंमें उत्पन्न करता है. और अन्तिम अन्तरायका स्वभाव उस राजभंडारीके समान है, जो राजाके दिलानेपर भी किसीको दान नहीं देता. जैसे भंडारी भिक्षुकोंको लाभ नहीं होने देता, अर्थात् अन्तरायकर्म दान लाभादिमें अन्तराय डाल देता है।

आठों कर्मोंका स्वरूप भलीभांति हृदयाङ्कित करके अब जानना चाहिये, कि कर्मोंका उपर्युक्त स्वभावकेसहित जीवसे सम्बन्ध होनेको प्रकृतिबंध कहते हैं, पृथक् २ कर्म परमाणुओंका पृथक् २ मर्यादाको लिये स्थिति होनेको स्थितिबंध कहते हैं. ज्ञानावरणी दर्शनावरणी, वेदनी और अन्तराय कर्मोंकी[१] स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी तथा मोहिनीके दो भेद दर्शनमोहिनी, चारित्रमोहिनी; इनमेंसे दर्शनमोहनीकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तथा चारित्रमोहिनीकी चालीस कोड़ाकोड़ी सागरकी और नामकर्म, गोत्रकर्मकी बीस

१ इन चार कर्मोंकी घातियाकर्म और आयु नामादिचारकी अघातिया कर्म संज्ञा है, क्योंकि घातिया कर्मोंका क्षय हो चुकनेपर अघातिया कर्म वलहीन हो जाते हैं.

कोड़ाकोड़ी सागरकी और आयुकर्मकी तेतीस[1] सागरकी होती है. यह सम्पूर्ण कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति बतलाई गई है, और जघन्यस्थिति अर्थात् कमसे कम मर्यादा वेदनीकी बारह मुहूर्त तथा नाम, गोत्रकी आठ मुहूर्तकी है. अवशेष सबकी अन्तरमुहूर्तकी है।

उपर्युक्त आठोंकर्मोंके विपाक होनेको अर्थात् उदयमें आकर रस देनेको **अनुभागबंध** कहते हैं. यह विपाक **शुभविपाक,** और **अशुभविपाक** ऐसे दो भेदरूप है. नीम, विष और हालाहल इन चारोंकी कटुकता तथा गन्ना, (सांटा) गुड़, मिश्रीकी मधुरता जिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक है, उसीप्रकार **अशुभविपाक** और **शुभविपाक**का रस भी उत्तरोत्तर अधिक होनेसे अनेक भेदरूप होता है।

आत्माके असंख्य प्रदेश हैं. इन असंख्य प्रदेशोंमेंसे एक २ प्रदेशपर अनन्तानन्त कर्म्मवर्गणाओं, बंधजीवके प्रदेशों, और पुद्गलके प्रदेशोंके एक क्षेत्रावगाही होकर स्थिति होनेको **प्रदेशबंध** कहते हैं. यह चारोंप्रकारके बंधका संक्षिप्त स्वरूप है. इन्हीं चारमेंसे **प्रकृतिबंध** तथा **प्रदेशबंध** योगोंसे और **स्थितिबंध अनुभागबंध** कषायोंसे होता है।

दर्शनमात्मविनिश्चितरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥ २१६॥

अन्वयार्थौ—[आत्मविनिश्चितः] स्वकीय आत्माका विनिश्चय [दर्शनम्] सम्यग्दर्शन, [आत्मपरिज्ञानं] आत्माका विशेषज्ञान [बोधः] सम्यग्ज्ञान, और [आत्मनि] आत्मामें [स्थितिः] स्थिरता [चारित्रं] सम्यक्चारित्र [इष्यते] कहा गया है. तो फिर [एतेभ्यः 'त्रिभ्यः'] इन तीनोंसे [कुतः] कैसे [बन्धः] बंध [भवति] होता है?।

भावार्थ—चेतनालक्षणयुक्त अनन्तगुणात्मक आत्माका, स्वतत्त्वविनिश्चयरूपचेतनापरिणाम सम्यग्दर्शन है, विनिश्चित आत्माका परिचयरूप चेतनापरिणाम सम्यग्ज्ञान है और उक्त परिचित आत्मामें निराकुलस्थिरतारूप चेतनापरिणाम सम्यक्चारित्र है. इस प्रकार अभेदरत्नत्रयीआत्मस्वभावसे बंध होनेकी संभावना कैसे की जासक्ती है? नहीं की जाती! क्योंकि भिन्न वस्तुसे बंध होता है, अभेद रूपसे नहीं।

सम्यक्चारित्राभ्यां तीर्थङ्कराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय॥ २१७॥

अन्वयार्थौ—[अपि] और [तीर्थङ्कराहारकर्मणः] तीर्थंकर प्रकृति और आहार प्रकृतिका [यः] जो [बन्धः] बन्ध [सम्यक् चारित्राभ्यां] सम्यक्त्व और चारित्रसे [समये] आगममें [उपदिष्टः] कहा है, [सः] वह [अपि] भी [नयविदां] नयवेत्ताओंको [दोषाय] दोषकेलिये [न] नहीं है।

---

१ तेतीससागरसे अधिक आयु किसी भी जीवकी किसी भी गतिमें नहीं है.

भावार्थ—तीर्थंकरप्रकृतिका वंध चतुर्थ गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानके छट्ठे भागतक तीनों सम्यक्त्वोंसे होता है और आहारप्रकृतिका वंध चारित्रसे होता है. यद्यपि ऐसा श्रुतिकेवलिप्रणीत शास्त्रोंमें नियम है, तौ भी नय विभागके ज्ञाता इस कथनको अविरुद्ध समझते हैं. क्योंकि, अभूतार्थनयकी अपेक्षा तो सम्यक्त्व और चारित्र वंधके करनेवाले होते है परन्तु भूतार्थनयकी अपेक्षा सम्यक्त्व चारित्र वंधके कर्ता नहीं होते, वंधके कर्त्ता पूर्वोक्त योग कषाय ही हैं. और भीः—

सम्यक्त्व दो प्रकारका है. एक सरागसम्यक्त्व और दूसरा वीतरागसम्यक्त्व. सरागसम्यक्त्व किंचित् रागभावयुक्त और वीतरागसम्यक्त्व रागभावसे विमुक्त है. सुतरां तीर्थंकर व आहारप्रकृतिका वंध सरागसम्यक्त्वमें राग भावके मेलसे होता है, वीतराग सम्यक्त्वमें नहीं ।

सति सम्यक्त्वचारित्रे तीर्थङ्कराहारबन्धकौ भवतः ।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थौ—[यस्मिन] जिसमें [सम्यक्त्वचरित्रे सति] सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए [तीर्थङ्कराहारबन्धकौ] तीर्थंकर और आहार प्रकृतिके वंध करनेवाले [योगकषायौ] योग और कषाय [भवतः] होते हैं [पुनः] और [असति न] नहीं होते हुए नहीं होते हैं, अर्थात् सम्यक्त्वचारित्रके विना वंधके कर्त्ता योग कषाय नहीं होते. [तत्] वह सम्यक्त्व और चारित्र [अस्मिन्] इस वंधमें [उदासीनं] उदासीन है ।

भावार्थ—सम्यक्त्व और चारित्र विद्यमान योगकषायोंसे तीर्थंकर और आहार प्रकृतिका वंधक है, क्योंकि सम्यक्त्व चारित्रके विना यह वंध नहीं होता. परन्तु स्मरण रहै, कि सम्यक्त्व तथा चारित्र इस वंधके न तो कर्त्ता ही हैं और न अकर्त्ता ही हैं, उदासीन हैं. जैसे महामुनियोके समीपवर्त्ती जातविरोधी जीव अपना २ वैर भाव छोड़ देते हैं, परन्तु जानना चाहिये, कि महामुनि इस वैरभावत्यागरूप कार्यके न तो कर्त्ता ही हैं और न अकर्त्ता. कर्त्ता इसकारण नहीं है, कि वे योगारूढ उदासीनवृत्तिके धारक वाह्यकार्योंसे पराङ्मुख हैं. अकर्त्ता इसकारण नहीं है, कि, यदि वे न होते, तो उक्त जीव वैर विरोधके त्यागी भी नहीं होते. अतएव कर्त्ता अकर्त्ता न होकर उदासीन हैं. इसीप्रकार तीर्थंकर आहारप्रकृतिवंधरूप कार्यमें सम्यक्त्वचारित्रको जानना चाहिये ।

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थौ—[ननु] शंका. कोई पुरुष शंका करता है, कि [रत्नत्रयधारिणां] रत्नत्रयधारी [मुनिवराणाम्] श्रेष्ठमुनियोंके [सकलजनसुप्रसिद्धः] समस्त जनसमूहमें

भलीभांति प्रसिद्ध [देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः] देवायु आदिक उत्तमप्रकृतियोंका वन्ध [एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे [कथं] कैसे [सिद्ध्यति] सिद्ध होगा?

भावार्थ—रत्नत्रयधारी मुनियोंके देवायु आदिक पुण्य प्रकृतियोंका वन्ध होता है. यह सव लोग अच्छीतरहसे जानते हैं, परन्तु अव आप जब रत्नत्रयको निर्वन्ध सिद्ध कर चुके हैं, तब यह बतलाइये, कि इनके बंधका कारण क्या कोई और है, अथवा यही रत्नत्रय है? शिष्यका यह प्रश्न है।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥ २२०॥

अन्वयार्थौ—[इह] इस लोकमें [रत्नत्रयं] रत्नत्रयरूप धर्म [निर्वाणस्य एव] निर्वाणका ही [हेतुः] हेतु [भवति] होता है, [अन्यस्य] अन्यगतिका [न] नहीं, [तु] और [यत्] जो रत्नत्रयमें [पुण्यं आस्रवति] पुण्यका आस्रव होता है, सो [अयं] यह [अपराधः] अपराध [शुभोपयोगः] शुभोपयोगका है।

भावार्थ—पूर्व आर्यामें किये हुए प्रश्नका उत्तरः—गुणस्थानोंके अनुसार मुनिजनोंके जहां रत्नत्रयकी आराधना है, वहां देव गुरु शास्त्र सेवा, भक्ति, दान, शील, उपवासादि रूप शुभोपयोगका भी अनुष्ठान है, सुतरां यही शुभोपयोगका अनुष्ठान देवायुप्रमुख पुण्यप्रकृति बंधका कारण है, अर्थात् इस पुण्यप्रकृतिबंधमें शुभोपयोगका अपराध है, रत्नत्रयका नहीं. सारांश रत्नत्रय पुण्यप्रकृतिबंधका भी कारण नहीं है।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्य्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः॥२२१॥

अन्वयार्थौ—[हि] निश्चयकर [एकस्मिन्] एक वस्तुमें [अत्यन्तविरुद्धकार्य्ययोः] अत्यन्त विरोधी दो कार्योंके [अपि] भी [समवायात्] मेलसे [तादृशः अपि] वैसा ही [व्यवहारः] विरुद्ध व्यवहार [रूढिम्] रूढ़ीको [इतः] प्राप्त है. [यथा] जैसे [इह] इस लोकमें "[घृतं] घीव [दहति] जलाता है" [इति] इसप्रकार कहावत है।

भावार्थ—जैसे अग्नि दाहरूप कार्यमें कारण है और घृत अदाहरूप कार्यमें कारण है परन्तु जब इन दोनों अत्यन्त विरोधी कार्योंका समवाय सम्बन्ध होता है, तव कहा जाता है, कि इस पुरुषको घृतने जला दिया. इसीप्रकार शुभोपयोग पुण्यबंधरूप कार्यमें कारण है और रत्नत्रयमोक्षरूप कार्यमें कारण है, परन्तु जब गुणस्थानकी चढ़न परिपाटीमें दोनों एकत्र होते हैं, तब व्यवहारसे संसारमें कहा जाता है, कि रत्नत्रयसे बंध हुआ. यदि यथार्थमें रत्नत्रय बंधका कारण मान लिया जावेगा तो मोक्षका सर्वथा अभाव ही हो जावेगा।

---

१ नित्यद्रव्यादिमें जाति आदिका सम्बन्धविशेष.

सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थौ—[इति] इसप्रकार [एषः] यह पूर्वकथित [मुख्योपचाररूपः] निश्चय और व्यवहाररूप [सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रलक्षणयुक्त [मोक्षमार्गः] मोक्षका मार्ग [पुरुषं] आत्माको [परमपदं] परमात्मपद [प्रापयति] प्राप्त करता है।

भावार्थ—अष्टांग सम्यग्दर्शन, अष्टांगसम्यग्ज्ञान और मुनियोंके महाव्रतरूप आचरणको व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं, तथा अपने आत्मतत्त्वकी रुचि, आत्मतत्त्वका परिज्ञान और आत्मतत्त्वमें ही निश्चल होनेको निश्चय रत्नत्रय कहते हैं. यह दोनों प्रकारका रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है. जिसमेंसे निश्चय रत्नत्रयका समुदाय साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार रत्नत्रय परंपरा मोक्षमार्ग है. पथिकके (बटोहीके) उस मार्गको जिससे कि वह अपने अभीष्ट देशको क्रमसे स्थान २ पर ठहरके पहुंचता है परंपरामार्ग, और जिससे अन्य किसीस्थानमें ठहरे विना सीधा ही इष्ट देशको पहुंचता है, उसे साक्षात्मार्ग कहते हैं।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः॥ २२३ ॥

अन्वयार्थौ—[नित्यम् अपि] सदा ही [निरुपलेपः] कर्मरूपी रजके लेपसे रहित [स्वरूपसमवस्थितः] अपने अनन्तदर्शन ज्ञानस्वरूपमें भलेप्रकार अवस्थित [निरुपघातः] उपघातरहित और [विशदतमः] अत्यन्त निर्म्मल [परमपुरुषः] परमात्मा [गगनम् इव] आकाशकी तरह [परमपदे] लोकशिखरस्थित मोक्षस्थानमें [स्फुरति] प्रकाशमान् होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश रजयुक्त नहीं होता, सदा अपने स्वभावमें स्थित रहता है, किसीके द्वारा घाता नहीं जा सक्ता और अत्यन्त निर्म्मल होता है, उसीप्रकार मुक्तात्मा अपनी निरावरण निरवसान शक्तिसे विराजमान् स्वभावप्राप्त होता है और अनन्तकालतक रहता है।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थौ—[कृतकृत्यः] कृतकृत्य [सकलविषयविषयात्मा] समस्त पदार्थ हैं

१ स्वभावसे किसीके द्वारा घाता नहीं जाता.

२ सकलविषयविरतात्मा इत्यपिपाठः (सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त, ऐसा भी पाठ है.)

३ जो कुछ करना था सो कर चुके, अवशेष कर्त्तव्य कुछ नहीं.

विषयभूत जिनके, अर्थात् सव पदार्थोंके ज्ञाता [परमानन्दनिमग्नः] विषयानन्दसे रहित ज्ञानानन्दमें अतिशय मग्न [ज्ञानमयः] ज्ञानमय ज्योतिरूप [परमात्मा] मुक्तात्मा [परमपदे] सर्वोपरि मोक्षपदमें [सदैव] निरन्तर ही [नन्दति] आनन्दरूप स्थित हैं।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥ २२५॥

अन्वयार्थौ—[मन्थाननेत्रं] मथानीके नेताको [गोपी इव] विलोवनेवाली ग्वालिनीकी तरह [जैनीनीतिः] जिनेन्द्रदेवकी स्याद्वादनीति वा निश्चय व्यवहाररूप नीति [वस्तुतत्त्वं] वस्तुके स्वरूपको [एकेन] एक सम्यग्दर्शनसे [आकर्षन्ती] अपनी ओर खींचती है, [इतरेण] दूसरे अर्थात् सम्यग्ज्ञानसे [श्लथयन्ती] ग्रहण करती है और [अन्तेन] अन्तिम अर्थात् सम्यक्चारित्रसे सिद्धरूप कार्यके उत्पन्न करनेसे [जयति] सवके ऊपर वर्त्तती है।

भावार्थ—जिसप्रकार दहीकी विलोवनेवाली ग्वालिनी मथानीकी रस्सीको एक हाथसे खींचती है, दूसरेसे ढीलीकर देती है और दोनोंकी क्रियासे दहीसे मक्खन वनानेकी सिद्धि करती है. उसी प्रकार जिनवाणीरूप ग्वालिनी सम्यग्दर्शनसे तत्त्वस्वरूपको अपनी ओर खींचती है, सम्यग्ज्ञानसे पदार्थके भावको ग्रहण करती है और दर्शन ज्ञानकी आचरणरूप क्रियासे अर्थात् सम्यक्चारित्रसे परमात्मपदप्राप्तिकी सिद्धि करती है। अथवाः—

अन्वयार्थौ—[मन्थाननेत्रं] मथानीके नेताको [गोपी इव] ग्वालिनीके समान जो [वस्तुतत्त्वं] वस्तुके स्वरूपको [एकेन अन्तेन] एक अन्तसे अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे [आकर्षन्ती] आकर्षण करती है अर्थात् खींचती है और फिर [इतरेण] दूसरे पर्य्यायार्थिक नयसे [श्लथयन्ती] शिथिल करती है. सो [जैनीनीतिः] जैनियोंकी न्यायपद्धति [जयति] जयवती है।

भावार्थ—जिस नयके कथनका प्रयोजन द्रव्यसे हो उसे द्रव्यार्थिक और जिसका प्रयोजन पर्य्यायसे ही हो उसे पर्य्यायार्थिकनय कहते हैं. इन दोनों नयोंसे ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपका साधन होता है. अन्य मान्य न्यायोंसे वस्तुका साधन कदापि नहीं हो सक्ता. अव यहांपर यह वतलानेकेलिये, कि इन दोनोंसे जैनियोंकी नीति वस्तुस्वरूपका साधन किस तरह करती है? आचार्य्य महाराजने एक विलक्षण उदाहरण दिया है, कि जिस तरह ग्वालिनी मक्खन वनानेरूप कार्यकी सिद्धिकेलिये दहीमें मथानी चलाती है

---

४ संसारमें जो चक्रवर्ति, धरणेन्द्र, देवेन्द्र, अहमेन्द्रादि परस्पर वहुत सुखी हैं, सो तो विषयानन्दकी अपेक्षासे हैं, परन्तु मुक्तात्मा अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दसे सुखी हैं।

५ पक्षमें—शिथिल करती है.

६ "अन्त" शब्द पक्ष, सीमा, प्रान्त, अवसान आदि अनेक अर्थवाची है.

और उसकी रस्सीको जिस समय एक हाथसे अपनी ओर खींचती है, उस समय दूसरे हाथको शिथिल कर देती है और फिर जब दूसरेसे अपनी ओर खींचती है, तब पहिलेको शिथिल करती है; एकके खींचनेपर दूसरेको सर्वथा छोड़ नहीं देती. इसी प्रकार जैनीनीति जब द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुका ग्रहण करती है, तब पर्य्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुमें उदासीनभाव धारण करती है और जब पर्य्यायार्थिक नयसे ग्रहण करती है, तब द्रव्यार्थिककी अपेक्षा उदासीनता धारण करती है. किसीको सर्वथा छोड़ नहीं देती और अन्तमें वस्तुके यथावत् स्वरूप कार्यकी सिद्धि करती है. जैनी जिस समय द्रव्यार्थिकको मुख्य मानके जीवका स्वरूप नित्य कहते हैं, उस समय पर्यायकी अपेक्षा उदासीन रूपसे अनित्य भी कहते हैं ।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थौ—[चित्रैः] नाना प्रकारके [वर्णैः] अक्षरोंसे [कृतानि] किये हुए [पदानि] पद, [पदैः] पदोंसे [कृतानि] बनाये गये [वाक्यानि] वाक्य हैं [तु] और [वाक्यैः] उन वाक्योंसे [पुनः] पश्चात् [इदं] यह [पवित्रं] पवित्र पूज्य [शास्त्रं] शास्त्र [कृतं] बनाया गया है. [अस्माभिः] हमने [न 'किमपि कृतं'] कुछ भी नहीं किया ।

भावार्थ—ग्रन्थकर्त्ता आचार्य अपनी लघुता प्रगट करनेकेलिये कहते हैं, कि अकारादि सम्पूर्ण अक्षर पौद्गलिक हैं, अनादि निधन हैं. इन्हींका जब विभक्त्यन्त समुदाय होता है, तब पद कहलाता है, तथा अर्थके सम्बन्धपर्यन्त क्रियापूर्ण पदोंका समुदाय वाक्य कहलाता है और उन्हीं वाक्योंका यह एक समुदायरूप ग्रन्थ हो गया है. अतएव इसमें मेरी कृति कुछ भी नहीं है, सब स्वाभाविक रचना है । शुभमस्तु.

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोषः समाप्तः ॥

विज्ञापन ।

विदित हो कि स्वर्गीय कविराज रायचन्द्रजीने जैन तत्त्वग्रन्थोंके प्रचार करनेकेलिये श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडलकी स्थापना की थी, यद्यपि अनेककारणोंसे इस कार्यका प्रारंभ उनकी जीवनावस्थामें नहीं हो सका था. परन्तु हर्षका विषय है, कि आज उनके अनुयायियोंकी प्रेरणा और परमोत्साहसे यह कार्य आरंभ किया जाता है. अर्थात् उक्त तत्वज्ञानी कविराजके चिरस्मरणार्थ रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला नामके द्विमासिक पुस्तकद्वारा जिनमतके अतिशय प्राचीन तथा अनुपलभ्यग्रन्थोंके जीर्णोद्धारकी योजना की गई है।

इस ग्रन्थमालाका प्रत्येक अंक लगभग १६० पृष्ठका इसी अंकके आकारका रहैगा, जिसमें दिगम्बरीय तथा श्वेताम्बरीय उभय पक्षके ऋषिप्रणीत उत्तमोत्तम सर्वसाधारणोपयोगी ग्रन्थ यथासाध्य प्रकाशित किये जावेंगे. ग्रन्थमालाका वार्षिक मूल्य ६) छह रुपया रहैगा। आगामी अंकोंकेलिये १ सप्तभंगीतरंगिणी, २ पंचास्तिकायसमयसार, ३ स्याद्वादमंजरी, ४ बृहद्द्रव्यसंग्रह, ५ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ६ ज्ञानार्णव, ७ तत्वार्थाधिगमभाष्य, ८ षोड़शकप्रकरण, ९ प्रवचनसार, १० नाटकसमयसार आदि ग्रन्थ सरल हिन्दी भाषाटीकासहित तयार हो रहे हैं और निम्नलिखित ग्रन्थोंकी भाषाटीका होनेका शीघ्र ही प्रबन्ध किया जारहाहै;:—

१ सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका)—	पूज्यपादस्वामिरचित.
२ द्वात्रिंशतिका—	हरिभद्रसूरिरचित,
३ परमात्मप्रकाश—	योगीन्द्रदेवकृत.
४ सुभाषितरत्नसंदोह—	अमितगत्याचार्यप्रणीत.
५ धर्मसंग्रहणी—	हरिभद्रसूरिविरचित.
६ उपमितिभवप्रपंचाकथा—	सिद्धर्षिप्रणीत.
७ गुणस्थानक्रमारोहण—	रत्नशेखरसूरिसंगृहीत.
८ योगविन्दु—	हरिभद्रसूरिकृत.
९ धर्मविन्दु—	,, ,,

ग्राहक होनेकी सूचना निम्नलिखित पतेसे मिलना चाहिये:—

जौहरी बाजार,
बम्बई. } रेवाशंकर जगजीवन—
ऑनरेरी व्यवस्थापक-श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल ।